न्यायस्थापना अभियान

(संक्षिप्त परिचय)

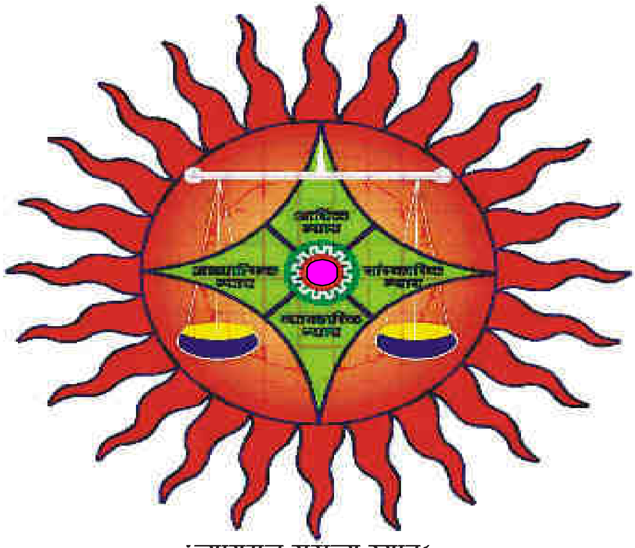

'न्यायमूल सुराज्य स्यात्'

लेखक

श्री अरविन्द 'अंकुर'

न्यायधर्मसभा

जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तरांचल)

फोन : 01334 – 244760, मोबाइल : 09319360554

वेबसाइट : www.nyayadharmsabha.org

ईमेल : info@nyayadharmsabha.org

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विवरण	पृष्ठांक
1.	न्याय निवेदन	3
2.	सात्त्विक राष्ट्रवन्दना	4
3.	सात्त्विक राष्ट्रगीत	4
4.	स्वागतम्	5
5.	न्यायधर्मसभा : संक्षिप्त परिचय	6
6.	न्यायसन्देश	7
7.	राष्ट्रीय अन्याय	10
8.	अश्रुपात	11
9.	भूमिका	12
10.	न्याय स्थापना अभियान	14
11.	गीत	69
12.	राजनीति तजो न्यायनीति भजो	69
13.	जनमत संग्रह अभियान का परिचय	70
14.	प्रेरणागीत	72
15.	न्यायधर्मगीत	74
16.	न्याय कहानी	76
17.	न्यायधर्म	77
18.	न्यायविधान	78
19.	न्यायमहिमा	79
20.	अधिकार महिमा	80

न्याय-निवेदन

हे प्रभो! सत्‌बुद्धि दो समता सदा मन में पले।
न्याय सामन्जस्य का दीपक सदा जग में जले।।

रंग लिंग प्रजाति में सर्वत्र सम व्यवहार हो।
न्यायशील समाज हो सबको उचित अधिकार हो।

अर्थ में संस्कार में व्यवहार में भी न्याय हो।
आत्महित सबका सधे शुभ न्याय का समुदाय हो।।

न्याय ही आधार हो विधि के उचित निर्माण का।
राष्ट्रधर्म यही सदा है न्यायपथ कल्याण का।

इस धरा पर हे प्रभो! शुभ न्याय का विस्तार हो।
तज विषमता भेद मानव में परस्पर प्यार हो।।

❀❀❀

सात्त्विक राष्ट्रवन्दना

'सत्-सिद्धान्त' प्रकाशक जय हे! जय हे! विश्वविधाता।
सत् अद्वैत प्रकाश उपनिषद्, ज्ञानसूर्य जगत्राता।।

सत्यम् प्रेमम् न्यायम् पुण्यम्, सतोपन्थ अवधाता।
चतुष्पात् सत्धर्म सनातन, राष्ट्रधर्म सुखदाता।।

व्यक्ति कुटुम्ब समाज सृष्टि को, हे सुख शान्ति प्रदाता!
संसाधन संस्कृति सुसभ्यता, शुभ सिद्धान्त विधाता।।

संविधान समुचित हितकारी, न्यायशील सुखदाता।
सत् आधारित न्यायनीति के, हे सत्पथ निर्माता!!

सत्यमेव जयते! प्रेममेव जयते!
न्यायमेव जयते! पुण्यमेव जयते!

❀❀❀

सात्त्विक राष्ट्रगीत

भारतभूमि निःसीम निलय हे!
विश्व भुवन वसुधा निर्भय हे!
भ्रमनाशक सत्प्रभा प्रकाशक,
अंधकार अज्ञान विनाशक,
आधि-व्याधि निर्मम अघनाशक,
रविनिकुंज भूतल भारत हे!
धवल हिमालय गंगासागर,
ज्योतिपुंज ऋकभूमि विभावर,
प्रणयिनि प्राण-प्राण रत्नाकर,
एक सूत्र गुंछित कण-कण हे!
नंदनवन शुभ मानसरोवर,
दिव्यलोक सत्भूमि मनोहर,
जय जय 'सत्-सिद्धान्त' विजयते,
जयते! जयते! सत्यमेव जयते!

❀❀❀

स्वागतम्

'न्यायधर्मसभा' पूर्णतः जीवनसापेक्ष सामाजिक संस्था है, जो राजनीति से सर्वथा दूर न्यायनीति की पक्षधर है तथा विश्व के सभी धर्मों, मजहबों, पन्थों, संस्कृतियों, भाषाओं, जातियों, रंगों, लिंगों, वर्गों, क्षेत्रों, राष्ट्रों आदि के प्रति निष्पक्षतापूर्वक समभाव एवं समदृष्टि रखती है। समाज के प्रत्येक सदस्य को समुचित समृद्धि, समुचित संस्कार, समुचित सम्मान एवं समुचित कल्याण की सुलभता हेतु समाज में आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय एवं आध्यात्मिक न्याय की स्थापना ही 'न्यायधर्मसभा' का प्रमुख लक्ष्य है। राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु अपनायी गई अन्यायपूर्ण शासनव्यवस्था के परिणामस्वरूप वर्तमान समाज में धन, पद, लिंग, जाति, वर्ग, रंग, भाषा, संस्कृति, क्षेत्र, धर्म आदि अनेक आधारों पर जनता के बीच पारस्परिक संघर्ष व्याप्त है। चोरी, डकैती, हिंसा, हत्या, आतंक, आक्रमण, युद्ध आदि की भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। चारों ओर अनैतिकता, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा, असुरक्षा से जनसमुदाय पीड़ित है। शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण प्राप्ति के जनाधिकार खो गए हैं। गुण, धन, सुख, स्वास्थ्य प्राप्ति के मानवाधिकार समाप्त हो गए हैं। जनता गरीबी, भुखमरी, लाचारी, बीमारी, शोषण, दलन, दमन, उत्पीड़न, अपमान का दुःख झेल रही है। मानवसमाज की मानवता और सामाजिकता विलुप्त हो गई है। संविधान की सम्वैधानिकता नष्ट कर दी गई है। न्यायालय की न्यायशीलता खो गई है। राष्ट्र में व्यक्ति, परिवार, समाज, समष्टि की जीवनधारा छिन्न-भिन्न हो रही है। राष्ट्रीय सरकार का यह कर्तव्य और उत्तरदायित्व है कि वह व्यक्ति को शिक्षा, परिवार को आजीविका, ग्रामसमाज को सुखसुविधा और समष्टि को संरक्षण प्रदान करे। किन्तु सरकारें अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से विमुख हैं। अतः अशिक्षा से व्यक्ति का व्यक्तित्व कुंठित हो रहा है। अनाजीविका से परिवार का जीवन कुंठित हो रहा है। असुविधा से ग्रामसमाज का विकास कुंठित हो रहा है। असुरक्षा से समष्टि का अस्तित्व कुंठित होता है। स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय की स्थापना सम्पूर्ण जीवनधारा को सुव्यवस्था और सुखशान्ति प्रदान करने का एकमात्र उपाय है। वर्तमान अवांछित एवं वीभत्स परिस्थितियों को दूर करके व्यक्ति, परिवार, समाज एवं समष्टि के चहुँमुखी विकास और धरती पर स्वर्णिम जीवन के निर्माण हेतु हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि मानवसमाज के समस्त न्यायप्रिय जनों का न्यायधर्मसभा में सहर्ष स्वागत है। समाज में न्यायस्थापना के पवित्र कार्य में सहयोगी बनने हेतु न्यायधर्मसभा की सदस्यता अवश्य ग्रहण करें।

❀ ❀ ❀

न्याय ही समाज की सामाजिकता है। न्याय ही सब धर्मों की प्राथमिकता है। अन्याय ही अधार्मिकता है। न्याय ही इंसाफ और समता है। न्याय प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। उठो! जागो! अपना जीवनाधिकार प्राप्त करो! राज, राजनीति और राजनेता का परित्याग करो। न्याय, न्यायनीति और न्यायनेता का स्वागत करो। अपने भाग्य का निर्माण अपने आप करो। समुचित अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण ही न्याय है। समता और औचित्यता की प्रतिष्ठा ही न्यायधर्म की प्रतिष्ठा है। अपने और सबके हितों का समुचित निर्धारण और संवितरण स्वीकार करो। जंगलराज से निकलकर मंगलसमाज की ओर चलो।

❀ ❀ ❀

सभी सुखी हों सर्वदा, सब हों स्वस्थ निरोग।
बनें सुसज्जन लोग सब, कहीं न हो दुःखभोग।।

❀ ❀ ❀

न्यायधर्मसभा

संक्षिप्त परिचय

१. हमारी दृष्टि	: समदर्शिता (निष्पक्षता)
२. हमारा आधार	: समुचितता (न्यायशीलता)
३. हमारा धर्म	: न्यायधर्मिता
४. हमारा समाज	: मानवता
५. हमारा राष्ट्र	: सार्वभौमिकता (विश्वभारत)
६. हमारी जाति	: सज्जनता
७. हमारी संस्कृति	: स्वाभाविकता
८. हमारी सभ्यता	: सामाजिकता
९. हमारी परम्परा	: न्यायपरायणता
१०.हमारा लक्ष्य	: न्याय संस्थापन एवं संरक्षण

❀❀❀

NYAYA DHARM SABHA

Brief Introduction

1. Our Vision	: Equanimity (Impartiality)
2. Our Base	: Equality & Appropriatness
3. Our Religion	: Justice
4. Our Society	: Humanity
5. Our Nation	: Universality
6. Our Caste	: Gentility
7. Our Culture	: Naturality
8. Our Civilization	: Sociality
9. Our Tradition	: Justfulness
10.Our Goal	: Establishment & Protection of Justice

❀❀❀

न्याय सन्देश

हे भारत उठो! जागो!

''मेरा दृढ़ विश्वास है कि शीघ्र ही वह शुभ दिन आ रहा है; और भारतवर्ष जिस श्रेष्ठता का किसी काल में भी अधिकारी नहीं था, शीघ्र ही उस श्रेष्ठता का अधिकारी होगा। प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर ऋषियों का आविर्भाव होगा और तुम्हारे पुरखे अपने वंशधरों की इस अभूतपूर्व उन्नति से बड़े संतुष्ट होंगे। इतना ही नहीं, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, वे परलोक में अपने-अपने स्थानों से अपने वंशजों को इसप्रकार महिमान्वित और महत्त्वशाली देखकर अपने को महागौरवान्वित समझेंगे।

हे भाइयों! हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। यह देखो, भारतमाता धीरे-धीरे आँखे खोल रही है। वह कुछ ही देर सोई थी। उठो, उसे जगाओ और पहले की अपेक्षा और भी गौरवमण्डित करके भक्तिभाव से उसे उसके चिरन्तन पद पर प्रतिष्ठित कर दो!''

-(स्वामी विवेकानन्द, ग्रन्थ : हे भारत! उठो, जागो!)

❀❀❀

देश में न्याय करो! देश को आजाद करो!

''एक विकसित भारत के सपने को आर्थिक सुधारों तथा अन्य उपायों से साकार करने का प्रयास करते समय हमें 'नोबल पुरस्कार प्राप्त' अर्थशास्त्री 'अमर्त्यसेन' के निम्नलिखित कथन को हमेशा जेहन में रखना होगा- ''मुख्य मुद्दा है- सब लोगों को सब प्रकार के अवसर प्रदान करना। लेकिन, आज इन अवसरों को दिए जाने के बारे में समझौते किए जाते रहे हैं, उनको निष्क्रिय बनाने के उद्देश्य से कानून बनाए जाते रहे हैं, नौकरशाहों द्वारा नियंत्रण लगाए जाते रहे हैं। इसप्रकार के सब अवरोधों को समाप्त करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बड़े पैमाने पर सामाजिक अवसर देने का काम महज 'बाजारों को आजाद' करके पूरा नहीं होगा। उसके लिए खास-तौर पर शैक्षणिक सुविधाओं और स्वास्थ्य-रक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं का देशव्यापी विस्तार करके इन सुविधाओं को आमदनी और साधनों के भेदभाव के बिना सब भारतीयों को देना पड़ेगा। इसके लिए आवश्यक है ऐसी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक योजनाओं का क्रियान्वयन, जो हर प्रकार की असमानताओं को समाप्त कर सके। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन हमारे देश के करोड़ों लोग एक नए आजाद माहौल में जाकर देश को और ज्यादा खुशहाल और गतिशील बनाने में मददगार हो सकेंगे।''

-(ए.पी.जे.अब्दुलकलाम : राष्ट्रपति, ग्रन्थ : भारत 2020 : नवनिर्माण की रूपरेखा)

❀❀❀

न्यायशीलता का आधार : सत्‌ज्ञान

''नीति (न्याय) के नये आधार चाहिए। यह नयी नीति ज्ञान (सत्य) पर खड़ी होगी, भय पर नहीं। यह नयी नीति इस बात पर खड़ी होगी कि आज के आदमी को समझ में आना चाहिए कि नैतिक होना उसके लिए आनन्दपूर्ण है, नैतिक होना उसके लिए स्वास्थ्यपूर्ण है, नैतिक होना उसके निजी हित में है। यह किसी भविष्य के लिए नहीं, यह कल मृत्यु के बाद किसी स्वर्ग के लिए नहीं, बल्कि आज इसी पृथ्वी पर नैतिक होने का रस हो और जो अनैतिक है वह अपने हाथ से अपने पैर काट रहा है। जो अनैतिक है वह भविष्य में नरक जाएगा, ऐसा नहीं, बल्कि जो अनैतिक है वह आज अपने लिए नरक पैदा कर रहा है। अब भविष्य की नैतिकता ज्ञान का हिस्सा होगी।'' -(ओशो रजनीश, ग्रन्थ : शिक्षा में क्रान्ति)

❀❀❀

शक्ति से अन्याय और सत्य से न्याय

''भारत के सामने आज दो रास्ते हैं : वह चाहे तो पश्चिम के 'शक्ति ही अधिकार है' वाले सिद्धान्त को अपनाए और चलाए या पूर्व के इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और उसी की विजय के लिए अपनी सारी ताकत लगाए कि 'सत्य की ही जीत होती है'; सत्य में हार कभी है ही नहीं; और ताकतवर तथा कमजोर, दोनों को न्याय पाने का समान अधिकार है।'' -(महात्मा गाँधी, मेरे सपनों का भारत)

❀❀❀

समाधिकारिता पर समाज का पुनर्गठन करो!

''स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो स्वयं औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो, अँग्रेजों ने राज्य तुम्हारे हाथों में सौंप दिया तो होगा क्या? तब तो तुम प्रजा को दबाओगे और उन्हें कुछ भी अधिकार न दोगे। गुलाम तो शक्ति चाहता है- दूसरों को गुलाम बनाने के लिये। 'सबका समान अधिकार है', 'सभी समान हैं'- ये जो तत्त्व पूर्वकाल में आचार्य शंकर, रामानुज और चैतन्य आदि द्वारा प्रचारित हुए थे, उन्हीं के आधार पर समाज को पुनः गठित करने का प्रयत्न करो।'' -(स्वामी विवेकानन्द : हे भारत! उठो, जागो!)

❀❀❀

न्याय के स्वर्णिम युग का स्वागत करो!

''जब दुनिया के लोग ईश्वर के संदेश की सच्चाई (सत्ज्ञान) स्वीकार कर और जागरूक होकर उसके लिए आध्यात्मिक तथा सामाजिक नियमों पर आधारित एक नया समाज बनाने के लिए काम करेंगे, तब महानतम शान्ति आएगी और अतीत के ईश्वरदूतों की शान्ति और न्याय के स्वर्णिम युग की भविष्यवाणी सत्य होगी।'' -(बहाईधर्म : एक परिचय, ग्लोरिया फैजी)

❀❀❀

न्याय ही भारतीयता है

वैदिकयुग का भारतीय समाज, समानता (न्याय) और भ्रातृभाव (प्रेम) के सिद्धान्तों पर आधारित था। उस समय मनुष्यों की तो क्या बात, यहाँ के ऋषि-मुनियों ने प्राणिमात्र से मैत्रीभाव रखने का उपदेश दिया था और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की संसारभर में घोषणा कर दी थी। यह भावना हजारों वर्षों से 'सामाजिक न्याय' की स्थापना का प्रयत्न करती आयी है, पर कुछ व्यक्तियों की स्वार्थ और अपहरण की प्रवृत्तियों ने सदैव उसको दबाने और अन्याय तथा शोषण की प्रणाली को जारी रखने का प्रयत्न किया है।'' -(श्रीरामशर्मा आचार्य : धर्मतत्त्व का दर्शन और मर्म)

❀❀❀

किसी भी कीमत पर न्याय करो!

''गुलाम रहना मनुष्य के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। अन्याय और अनौचित्य को सहन करना सबसे बड़ा अपराध है। असमानता अथवा विषमता अथवा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना ही सबसे बड़ा गुण है, चाहे इसके लिए कोई भी कीमत चुकानी पड़े।'' -(सुभाषचन्द्रबोस, विज्ञापन : सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, भारतसरकार; हिन्दुस्तानटाइम्स : 23/01/05)

❀❀❀

शहादत से पूर्व सरदार भगतसिंह का पत्र

''माँ! मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि एक दिन मेरा देश आजाद हो जायेगा। लेकिन मुझे शक है कि गोरे साहबों द्वारा खाली की गई कुर्सियों पर ब्राउन साहब बैठ जायेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि घिसीपिटी पुरानी (अन्याय) व्यवस्था जो प्रगति के रास्ते में दीवार बनकर खड़ी है, को नष्ट किये बिना कोई परिवर्तन संभव नहीं है। दार्शनिकों ने विश्व की अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं, लेकिन असली मुद्दा इसमें परिवर्तन का है- जो केवल क्रान्ति से ही संभव है।''

-(सरदार भगतसिंह, शहादत से पूर्व माँ विद्यावती को लिखे गये पत्र का अंश)

❀❀❀

सबके लिए समान हितों का निर्धारण ही न्याय है

''जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य को ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे सो 'न्यायकारी' है; उसको मैं भी ठीक मानता हूँ।'' -(स्वामी दयानन्दसरस्वती, आर्यसमाज, ग्रंथ : सत्यार्थप्रकाश)

❀❀❀

न्यायपूर्वक जियो!

''एक फरीक (पक्ष) दूसरे पर ज्यादती करे, तो ज्यादती करने वाले से लड़ो। दोनों फरीक (पक्षों) में बराबरी के साथ सुलह करा दो। और इंसाफ से काम लो कि खुदा इंसाफ (न्याय) करने वालों को पसंद करता है।'' -(कुरआनमजीद, 6:49:9)

❀❀❀

स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता की त्रिवेणी

''स्वतन्त्रता, समानता (न्याय) व बन्धुता (प्रेम) एक ही तत्त्व में निहित हैं, जिसे आत्मीयता कहते हैं। मानव की आध्यात्मिक चेतना ही उसे समग्रता व पूरकता की दृष्टि देती है। इस दृष्टि का चेतनतत्त्व है- आत्मीयता। हम किसी का पूरक बनकर उस पर एहसान नहीं करते वरन् अपने आत्मीय जन के सहयोग का सुख प्राप्त करते हैं। सहानुभूति मानवता का गुण है। आत्मीयता के कारण सहानुभूति होती है।'' -(दीनदयाल उपाध्याय, ग्रन्थ : कर्तृत्व एवं विचार, पृष्ठ : 430)

❀❀❀

सर्वहितकारी न्यायशीलता को प्रतिष्ठित करो!

''सब (उपद्रव) मिटाना होगा- जाति, सम्प्रदाय, रूढ़िवाद। एवं विशिष्ट नियम का प्रारूप देना होगा। जो सभी राष्ट्रों का हो, सभी देशों के लिए हितकर हो; जो सब का हो, सबके लिए हो, जहाँ न जाति हो, न धर्म का भेद हो, न सम्प्रदाय हो और न बन्धन हो।''

-(महर्षि कपिल 'अद्वैत', पायलटबाबा, पुस्तिका : समाधि)

❀❀❀

न्याय का अनुशासन मानो!

''हम ईश्वर को सर्वव्यापी न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे। परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे। राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रान्त, सम्प्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे। अपने आप को समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे। दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसन्द नहीं।''

-(श्रीरामशर्मा आचार्य : युगनिर्माणयोजना एवं शान्तिकुंज, हरिद्वार)

❀❀❀

न्यायपूर्ण समाजव्यवस्था की नींव

''मैं भारत के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक मानता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि इस लक्ष्य को पाने का सिर्फ यही एक रास्ता है कि हम बच्चों को कोई उपयोगी उद्यम (कौशल) सिखाएँ। उस (शिक्षा-प्रशिक्षण) के द्वारा उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का विकास सिद्ध करें। ऐसा किया जाए तो हमारे गाँवों के लगातार बढ़ रहे नाश की प्रक्रिया रुकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाजव्यवस्था की नींव पड़ेगी, जिसमें अमीरों और गरीबों के अस्वाभाविक विभेद की गुंजायश नहीं होगी और हर एक को जीवन-मजदूरी (जीविका-रोजगार) और स्वतन्त्रता के अधिकारों का आश्वासन दिया जा सकेगा।'' -(महात्मागाँधी, मेरे सपनों का भारत)

❀❀❀

सच्चा अर्थशास्त्र न्यायशील होता है

''जो अर्थशास्त्र बलवानों को निर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है, जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। जिसे अपनाकर हम मृत्यु को न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है। वह समानभाव से सबकी भलाई का, जिसमें कमजोर भी शामिल है, प्रयत्न करता है। और वह सभ्यजनोचित सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है। मैं ऐसी ही स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दर्जा समान माना जाय।''

-(महात्मागाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

❀❀❀

राष्ट्रीय अन्याय

न्यायसूर्य उग सका न अब तक पीड़ित है समुदाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

संसाधन संस्कृति विलुप्त है और सभ्यता डूबी।
सत्-सिद्धान्त गँवाकर सबने पायी कैसी खूबी।।
लुट-पिट करके बैठ गए सब भूले सभी उपाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

शिक्षा का अधिकार खो गया अनपढ़ हैं नर-नारी।
मूर्ख बनाकर राजभोगरत है कुनबा सरकारी।।
विद्या बिना अशिक्षित जनता पशुओं सी बँध जाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

अनाजीविका से पीड़ित हैं देखो कितने प्राणी।
रोजी-रोटी की चिन्ता में पड़े सभी कल्याणी।।
समुचित आजीविका न हो तो घर-परिवार नशाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

सुखसुविधा को भोग रहे जो वे तो शहर कहाते।
जिन गाँवों को मिली न सुविधा वही पिछड़ते जाते।।
बिजली पानी सड़क न जिसको वही गाँव कहलाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

संरक्षण न मिला प्रकृति को पाप-प्रदूषण छाया।
शोषण दलन दमन उत्पीड़न से जीवन थर्राया।।
कुजन सुरक्षित हैं समाज में सुजन सताया जाय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

शिक्षा रोजगार सुखसुविधा संरक्षण सब पाएँ।
राष्ट्रकोष पर अब तो सब जन निज अधिकार जताएँ।।
जन-जन हों समुचित अधिकारी यह समाजिक न्याय रे!
सदियों से छाया है देखो धरती पर अन्याय रे!!

❀❀❀

अश्रुपात

शहरों की झोपड़पट्टी से देती चीख सुनाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

अस्सी प्रतिशत जर्जर तन हैं रोगी हैं नर-नारी।
और करोड़ों लोग घूमते बनकर आज भिखारी।।
पशुओं से ऊपर मानवता अभी नहीं उठ पाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

अनगढ़-अनपढ़ और गँवारों की भरमार बहुत है।
और चंद चतुरों के हाथों में अधिकार बहुत है।।
स्कूलों तक में भी अब तो होती नहीं पढ़ाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

इन्हीं गरीबों से पत्थरदिल काम खूब करवाते।
बाल वृद्ध स्त्री तक इनके सारे हुकुम बजाते।।
सिखे-पढ़ों ने भी तो केवल सीखी है चतुराई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

लूट-खसोट मची चौतरफा अंधी मारा-मारी।
जिसकी जेब भरी है जितनी उतना बड़ा भिखारी।।
धर्म देश की हालत ऐसी और देश हैं भाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

प्यार दुलार मिले तो पशु-पक्षी विनम्र हो जाते।
और प्रशिक्षण पाकर तो कितने कौतुक दिखलाते।।
घृणा अशिक्षा अनगढ़ता से है जीवन दुःखदाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

शिक्षा रोजगार सुखसुविधा संरक्षण की धारा।
जाकर गिरती है समुद्र में हो न सका बँटवारा।।
चारों जनाधिकार छीनकर मौज करे अन्यायी।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

लौट चलो ढाई अक्षर की ओर नहीं कुछ बिगड़ा।
वरना फट जाएगी धरती काम न देगा थिगड़ा।।
समझदार चेतें यदि देती हो आवाज सुनाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

चलो एक-दूजे को आगे बढ़कर गले लगाएँ।
सुख-दुःख सबके साथ भाइयों बाँटें और बटाएँ।।
'सत्यमेव जयते' की 'अंकुर' देते तुम्हें दुहाई।
भारत के दस लाख गाँव में निपट गरीबी छाई।।

❀❀❀

भूमिका

राजनीति ने धर्मनीति को नष्ट कर दिया है। न्यायनीति ही धर्मनीति है। अन्यायनीति ही राजनीति हो गई है। इसप्रकार राज्य और धर्म दोनों परस्पर विरोधी सिद्ध हो चुके हैं। धारणीय मार्ग ही धर्म कहलाता है। नीति-नियम, विधि-विधान, प्रथा-परम्परा, आदेश-निर्देश, आचार-व्यवहार आदि जो कुछ भी धारण करने योग्य है, वही धर्म है। किन्तु जो धारण करने योग्य नहीं है, वह धर्म नहीं हो सकता। वर्तमान समय में 'धर्म' शब्द की आड़ में भी वही षड़यन्त्र चल रहा है, जो 'राजनीति' शब्द के पीछे निहित है। राजनेता और धर्मनेता दोनों ही पदों पर दुष्ट लोग प्रतिष्ठित हो गए हैं। न 'राज्य' शब्द पवित्र बचा है, न 'धर्म' शब्द पवित्र बचा है। दोनों शब्दों की दुर्गति हो चुकी है। 'न्याय' शब्द की आड़ में भी यदि अन्याय किया जाने लगे, तो 'न्याय' शब्द भी अपनी गरिमा खो बैठेगा। यदि साधु के वेश में शैतान घूमने लगे, तो साधुता भी निन्दित हो जाएगी। डाकू यदि पुलिस की वर्दी पहनकर डकैती मारे तो पुलिस की गरिमा भी गिर जाएगी।

वर्तमान समय में जो राज्य की बात कर रहा है, वह भी जनद्रोही है और जो धर्म की बात कर रहा है, वह भी जनद्रोही है। जनहित, लोकहित, सर्वहित की बात कोई भी नहीं कर रहा है। राजनेता अपना या अपनी पार्टी का हित चाहता है। धर्मनेता भी अपना या अपने सम्प्रदाय का हित चाहता है। दोनों ही सर्वहित से दूर खड़े हो गए हैं। वास्तव में सर्वहित जिसप्रकार से सिद्ध हो, वही नीति है। जो सबके समुचित हितों-अधिकारों, समुचित कर्तव्यों-उत्तरदायित्वों की निर्धारक है, वही शुद्ध नीति है, वही वास्तविक धर्म है, वही न्याय है। सार्वजनिक जीवनव्यवस्था इस सर्वहित में ही कल्याणकारी सिद्ध होगी। न्यायनीति सदैव निष्पक्ष होती है। पक्षपात में तो न्याय मर जाता है। यदि एक व्यक्ति अथवा वर्ग का हित सधे, किन्तु दूसरे व्यक्ति अथवा वर्ग का अहित हो, तो ऐसी नीति, ऐसी व्यवस्था, ऐसा विधान न्यायशील नहीं हो सकता। बल्कि सभी लोगों के समुचित हितों को सिद्ध करने वाला विधान ही कल्याणकारी होगा, न्यायकारी होगा। ऐसा विधान ही न्यायविधान होगा, ऐसा विधान ही संविधान कहलाएगा।

इसप्रकार एक ऐसी लोकव्यवस्था जो लोकजीवन में प्रत्येक व्यक्ति के समुचित हितों-अधिकारों और समुचित कर्तव्यों-उत्तरदायित्वों का निर्धारण एवं क्रियान्वयन करती है, वही कल्याणकारी सिद्ध होती है, चाहे उसे लोकनीति, राष्ट्रनीति, राजनीति, धर्मनीति, न्यायनीति आदि कोई भी नाम दिया जाए। मूल बात यह है कि लोकजीवन में चारों जनाधिकारों की प्रतिष्ठा हो। जनता को समुचित शिक्षा, समुचित आजीविका, समुचित सुखसुविधा, समुचित संरक्षण प्राप्त हो, ताकि समाज में आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय एवं आध्यात्मिक न्याय प्रतिष्ठित हो सके। ये शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण प्रदान करने का कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी राष्ट्रीय सरकार का कर्तव्य और उत्तरदायित्व माना जाए। इसके बिना राष्ट्र में व्यक्ति, परिवार, समाज और समष्टि का कल्याण संभव नहीं है।

न्यायशील भारतराष्ट्र का पुनर्निर्माण हो, इसी बात के लिए न्यायधर्मसभा द्वारा न्यायस्थापना अभियान संचालित किया जा रहा है। न्याय की स्थापना का यह अभियान भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त राष्ट्रों में संचालित किया जाना है, क्योंकि न्याय सम्पूर्ण विश्व की पहली आवश्यकता है। न्याय के बिना मानवसमाज की मानवता और सामाजिकता दोनों ही नष्ट हो जाती हैं। प्रथमतः न्यायस्थापना का यह अभियान वर्तमान भारतराष्ट्र के लिए पंचवर्षीय 'जनमत संग्रह अभियान' के रूप में संचालित किया जा रहा है, जो 1 जनवरी 2006 से 31 दिसम्बर 2010 तक निरन्तर चलता रहेगा। आगे 1

जनवरी, 2011 को न्याय से सहमत लोगों का एक न्यायशील राष्ट्र घोषित होगा, जिसका नाम भारतवर्ष होगा। विश्वभारती के रूप में यह राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व को न्यायविधान और न्यायव्यवस्था प्रदान करेगा, जिसमें न्यायशील करप्रणाली और न्यायशील कार्यप्रणाली प्रतिष्ठित होगी। 'जितना कार्य उतना कर और जितना कर उतना कार्य' की नीति अपनाई जाएगी। जनता को शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि प्रदान करने सम्बन्धी सार्वजनिक कार्यों को ही सरकारी कार्य माना जाएगा और इन्हीं चारों कार्यों के लिए करसंग्रह किया जाएगा और संग्रहीत कर को इन्हीं चारों कार्यों पर समानुपातिक रूप से परिव्ययित किया जाएगा। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी अन्याय–अनीति को प्रतिष्ठा प्राप्त न हो, इसके लिए सभी उपाय किए जाएँगे। सबको समुचित शिक्षा, सबको समुचित रोजगार, सबको समुचित सुखसुविधा, सबको समुचित संरक्षण की सुनिश्चितता के लिए ही सार्वजनिक कराधान और कार्यान्वयन की न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था विश्वभारती के रूप में प्रतिष्ठित होगी, जो 'विश्व–बन्धुत्व' और 'वसुधैव–कुटुम्बकम्' के चिरपुरातन सत्घोष को साकार करेगी।

प्रस्तुत पुस्तिका न्यायस्थापना अभियान का संक्षिप्त परिचय प्रदान करती है। आप इसे पढ़कर भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के मानवसमाज में न्यायधर्मसभा द्वारा चलाए जा रहे न्यायस्थापना अभियान के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। हमें आशा के साथ पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक न्यायशील समाज और न्यायशील राष्ट्र के निर्माण में लोकमत का निर्माण और लोकजीवन का कल्याण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

–लेखक
अरविन्द 'अंकुर'
(संस्थापक एवं संरक्षक)
न्यायधर्मसभा

गुरुपूर्णिमा,
11 जुलाई, सन् 2006
हरिद्वार.

❀❀❀

न्याय स्थापना अभियान
संक्षिप्त परिचय

1. न्यायधर्म ही समाज की धुरी है

मानवसमाज न्याय की धुरी पर ही टिक सकता है। न्याय ही समाज की सामाजिकता का संरक्षक है। समाज में आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय एवं आध्यात्मिक न्याय को स्थापित करना और उसे बनाये रखना समाज के प्रत्येक सदस्य का पवित्र कर्तव्य और उत्तरदायित्व है।

2. मानवीय सहजीविता ही सामाजिक सभ्यता है

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन सामाजिक सहजीविता में विकसित और प्रगतिमान बना रह सकता है। यदि किसी मनुष्य को जंगल में एकाकी रहने के लिए छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं से अधिक सभ्य नहीं हो सकता। मानवीय सभ्यता तो केवल सामाजिक सहजीविता में ही विकसित होती है। रहन-सहन, आहार-विहार, वेश-भूषा, बोली-भाषा आदि का मानवीय ढंग भी सामाजिक सहजीविता के कारण ही प्राप्त होता है। पशुओं और मनुष्यों की बोली-भाषा अथवा रहन-सहन अथवा वेश-भूषा अथवा आहार-विहार के ढंग में क्या अन्तर है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। आज भी असामाजिक व्यक्ति के आचार-व्यवहार में कदाचित पशुता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं, जो उनके स्वयं के लिए और पूरे समाज के लिए हानिकारक हैं। मानवीय बुद्धि ने मानवजीवनव्यवहार में पारस्परिक सहजीविता की आवश्यकता अनुभव करते हुए एक सहजीवन व्यवस्था का अन्वेषण किया, जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और मानवीय सहजीविता को बनाए रख सके। जिसमें परस्पर बिखराव, टूट-फूट, संघर्ष-द्वन्द्व, द्वेष-ईर्ष्या, वाद-विवाद आदि उत्पन्न न हो सके।

3. मानवीय सहजीविता के सामाजिक स्वरूप का निर्धारण

ऐसी मानवीय सहजीविता का स्वरूप क्या हो, इसकी खोज की गई। इसके लिए मानवीय अस्तित्व के यथार्थ स्वरूप का शोध, अनुसंधान एवं अन्वेषण किया गया, जिसमें सभी मनुष्यों को आत्मिक रुप से सम और संयुक्त पाया गया। समस्त ज्ञान-विज्ञान की शोध इसी तथ्य तक पहुँची कि इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एक ही ईश्वरीय तत्त्व से हुई है। सबमें एक ही तत्त्व समानरूप से स्थित है। आत्मिक या तात्त्विक दृष्टि से सभी समान हैं। किन्तु जो जाति, लिंग, रंग, नाम, रूप, आकार, प्रकार, रुचि आदि में प्राणियों के बीच परस्पर भेद दिखाई पड़ता है, वह आत्मिक नहीं है, वह प्राकृतिक है। मूलतः आत्मतत्त्व से निर्मित यह जगत प्रकृति के संयोग से बना है। परमात्मा और प्रकृति, ब्रह्म और माया, पुरुष और स्त्री, चेतन और जड़, विवेक और वृत्ति, प्राण और प्रण, मनु और इला, आदम और ईव, सूर्य और पृथ्वी, प्रकाश और अन्धकार, उच्च और निम्न, दक्ष और वाम, आदि और अन्त, जन्म और मृत्यु, केन्द्र और परिधि इत्यादि के संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है। अतः किन्हीं भी दो या दो से अधिक वस्तुओं अथवा प्राणियों के बीच जो परस्पर भेद दिखाई देता है, वह आत्मिक नहीं है, वह प्राकृतिक है। वह स्थायी नहीं है, परिवर्तनशील है। वह शाश्वत नहीं है, भंगुर है। मूल जो आत्मतत्त्व है, वह तो सबमें समान रूप से व्याप्त है। वह स्थिर है, शाश्वत है, सनातन है। किन्तु जो परस्पर भेद है, वह स्थायी नहीं है, शाश्वत नहीं है। आज जो बालक है, वह कल युवा हो जाता है। आज जो बुरा है, वह कल अच्छा हो जाता है। आज जो स्वस्थ है, वह कल रुग्ण हो जाता है। ये नाम, रूप, गुण, कर्म, चरित्र, अभिरुचि, स्वभाव, आदत सब परिवर्तनशील हैं। ये सब प्रकृति हैं, माया हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शाश्वत, सनातन तत्त्व ब्रह्म ही सत्य है। शेष सबकुछ जो भेदपरक है, वह माया है, प्रकृति है। ब्रह्मतत्त्व ही माया को ओढ़कर ब्रह्माण्ड बन बैठा है। यही अब तक के समस्त ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। वेद-उपनिषद् का यही कथन है। बाइबिल और कुरान भी यही

कहते हैं कि उस परमेश्वर ने, अल्लाह ने मिट्टी (माया) के संयोग से सभी जीवों की रचना की और उसमें अपनी रूह फूँक दी। अतः जड़पदार्थों से निर्मित सभी शरीरों में एक ही ईश्वरीय चेतना अथवा चिदात्मा समानरूप से व्याप्त है। यही सत्य का प्रतिपादन है। और जो जड़तत्त्व है, वह भी चेतन परमाणुओं से बना है। चेतन परमाणुओं ने स्वयं को शिथिल करके जड़पदार्थ की रचना की है। अतः इस संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब कुछ एक ही ऊर्जा का घनीभूत रूप है। आज का वैज्ञानिक भी यही कहता है। प्रत्येक वस्तु का निर्माण एक ही ऊर्जा से हुआ है। आधुनिक भौतिक विज्ञान इस निष्कर्ष तक पहुँच चुका है कि मूलःरूप से सब कुछ सम है।

सत्य के इसी उपरोक्त प्रतिपादन से आत्मिक समता और व्यावहारिक औचित्यता का सिद्धान्त विकसित हुआ है, जिसे आदिकाल से ही 'न्याय' कहा जाता है। आत्मिक आधार पर सभी परस्पर सम हैं। प्राकृतिक आधार पर सभी परस्पर विषम हैं। किन्तु मौलिकता, तात्त्विकता तो आत्मा ही है, जो सबमें सर्वत्र सम है। अवधूत गीता कहती है–**'किमु रोदिषि मानस सर्व समम्'**। अर्थात् हे मन! तू क्यों रोता है, इस संसार में सब कुछ सम है, पूर्ण है, ब्रह्म है। भगवद्गीता कहती है–**'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।'** अर्थात् सभी प्राणियों में वह परमेश्वर प्रतिष्ठित है। कुरानमजीद कहती है– **'अल्लाह ने मिट्टी का पुतला बनाकर उसमें अपनी रूह फूँक दी।'** अर्थात् वह स्वयं ही उसमें प्रतिष्ठित हो गया। इसी आत्मिक सत्य का उद्घोष अनादिकाल से सभी ज्ञानियों–विज्ञानियों ने किया है। इसी मौलिक, वास्तविक, सात्त्विक, तात्त्विक समता के आधार पर ही मानवीय सहजीविता का स्वरूप निश्चित किया गया था। इस समतारुपी सत्य के कारण इस मानवीय सहजीवनधारा का नाम रखा गया था– 'समाज'। यह समाज शब्द समः+अज् की सन्धि है, जिसका अर्थ है– समता से जन्मा है जो। समता से जन्म होने के कारण ही मानवीय सहजीविता का नाम समाज है। मानव की यह सहजीविता समतामूलक हो, तभी उसे समाज की संज्ञा दी जा सकती है अन्यथा नहीं। इसप्रकार इस भेदपूर्ण विषमतामयी प्राकृत जगत में समतामूलक जीवन जीने की चेष्टा से ही सामाजिकता का जन्म हुआ। मौलिक रूप से सभी मनुष्य समाधिकारी हैं।

4. मनुष्यों का समाज और पशुओं का झुण्ड

यह समाज केवल मनुष्यों का ही होता है, पशुओं का नहीं। पशुओं की सहजीविता तो झुण्ड कहलाती है। इस सामाजिकता में मानवीय जीवन को ही क्यों सम्मिलित किया गया? क्योंकि उस समतारुपी सत्य का बोध केवल मनुष्यों को ही हो सकता है, अन्य किसी भी मानवेत्तर प्राणी को नहीं। ज्ञान–विज्ञान द्वारा प्रतिपादित पारस्परिक समतारुपी सत्य का बोध केवल मानवीय बुद्धि में ही होता है। मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्राणी में इतनी बौद्धिक क्षमता विकसित नहीं होती कि वह इस तात्त्विक प्रतिपादन को भली–भाँति समझ सके। अतः पशु–पक्षी आदि किसी भी मानवेत्तर प्राणी के भीतर से पारस्परिक द्वन्द्वभाव पूर्णतः निवृत्त नहीं हो सकता। और द्वन्द्वभाव के रहते समत्वभाव का उदय नहीं होता। समत्वभाव के बिना सामाजिकता का जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि द्वन्द्वात्मक दुर्बुद्धि से ग्रस्त जीव किसी दूसरे को समाधिकारी नहीं मानता। अपने समान दूसरों को भी अधिकार प्रदान करने की भावना का उदय केवल सत्बुद्धि की समदर्शिता से ही हो सकता है। मानवीय बुद्धि में समता का बोध होते ही मानवीय अन्तःकरण में द्वन्द्वभाव क्षीण होने लगता है। सत्भाव या अद्वैतभाव बढ़ने लगता है।

5. समता और औचित्यता के बीच परस्पर तालमेल

मानवीय सहजीविता को समाज की संज्ञा अथवा नामकरण प्रदान करने के लिए समता को आत्मिक मूलाधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। साथ ही मानवों के बीच प्राकृतिक भेदों को समायोजित करने के लिए औचित्यता का निर्धारण किया जाता है। अतः सामाजिक जीवनव्यवहार में समता और औचित्यता का संयोग सिद्ध होता है। इसी सम और उचित व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। ऐसी समुचित व्यवस्था ही सामाजिक न्याय की धुरी है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि समता के लिए औचित्यता का उल्लंघन अथवा औचित्यता के लिए समता का उल्लंघन न होने पाए। इसप्रकार मानवसमाज में सामाजिकता को बनाए रखने के लिए न्यायशील व्यवस्था का निर्धारण समुचित आधार पर किया जाता है।

6. मानवजीवन के चार आयाम

इस सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड की रचना चार आयामों के संयोग से हुई है– पदार्थ, प्रकृति, प्राण, परमात्मा। मनुष्यों में ये चारों आयाम ही क्रमशः तन, मन, ऊर्जा, आत्मा के नाम से जाने जाते हैं। पदार्थ ही तन है, प्रकृति ही मन है, प्राण ही ऊर्जा है, परमात्मा ही आत्मा है। सभी जीवों की यही दशा है। इन चारों आयामों को स्वस्थ बनाये रखने के लिए कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। तन को निर्वाह चाहिए, मन को निर्माण चाहिए, प्राण को व्यवहार चाहिए, आत्मा को कल्याण चाहिए। किसी भी जैविक प्रक्रिया के लिए ये चारों आयाम आवश्यक होते हैं। जैसे– रोबोट अथवा कम्प्यूटर में हार्डवेयर, साफ्टवेयर, इलेक्ट्रिसिटी, इंजीनियर आदि चारों आयामों की आवश्यकता है। हार्डवेयर ही तन है, साफ्टवेयर ही मन है, इलेक्ट्रिसिटी ही प्राण है, इंजीनियर ही आत्मा है। इन चारों के संयोग से ही जैविक संरचना प्रकट होती है।

7. मानवजीवन की मौलिक आवश्यकताओं का प्रतिपादन

मानवसमाज की व्यवस्था मानवजीवन की मौलिक आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। व्यवस्था का उद्देश्य उन आवश्यकताओं को पूरा करना ही कहा जा सकता है। मानवजीवन ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व–ब्रह्माण्ड ही चार आयामी है। अतः मानवजीवन की आवश्यकताएँ निश्चय ही चार आयामी होंगी। मानवजीवन के चार आयाम हैं– तन, मन, प्राण, आत्मा। इनमें से तन को आहार, मन को संस्कार, प्राण को व्यवहार, आत्मा को उद्धार चाहिए। इन आवश्यकताओं को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया जा सकता है :–

*1. **जीवननिर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताएँ :** अन्न, वस्त्र, आवास एवं अन्य वस्तुएँ।*

*2. **जीवननिर्माण सम्बन्धी आवश्यकताएँ :** नाम, रूप, गुण एवं चरित्र।*

*3. **जीवनसम्मान सम्बन्धी आवश्यकताएँ :** पद, आदर, मान एवं सम्बन्ध।*

*4. **जीवनकल्याण सम्बन्धी आवश्यकताएँ :** कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं स्वस्ति।*

8. मानवजीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय

जीवननिर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र उपाय है– संसाधन। समुचित संसाधनों के अभाव में जीवननिर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकती। अतः संसाधनों की सुलभता को व्यवस्था का उत्तरदायित्व मानना चाहिए। इसीप्रकार जीवननिर्माण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र उपाय है– संस्कृति। इस संस्कृति को ही जीवनशैली कहते हैं। हमारा चरित्र ही हमारी संस्कृति है। हम जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही अभ्यास हमारे अन्तःकरण में बैठता जाता है। इन अभ्यासों को ही संस्कार कहते हैं। ये संस्कार ही हमारे स्वभाव का निर्माण करते हैं। अतः संस्कृति ही जीवननिर्माण की धुरी है। इसीप्रकार जीवनसम्मान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र उपाय है– सभ्यता। वास्तव में सहजीविता को ही सभ्यता कहते हैं। पारस्परिक व्यवहार की प्रक्रिया ही सभ्यता है। एक व्यक्ति का दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध हो? दोनों की मूल्यवत्ता कैसे प्रतिष्ठित हो? यही सभ्यता की व्यवस्था है। सकारात्मक समाजव्यवस्था ही जीवन को सभ्य बनाती है। इसीप्रकार जीवनकल्याण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र उपाय है– सिद्धान्त। अन्तिमरूप से सिद्ध बात ही सिद्धान्त है। इस जगत और जीवन की यथार्थता के समस्त शोध और अनुसंधान इसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सारा जगत एक ही तत्त्व से निर्मित है। इस जगत में दूसरे किसी तत्त्व की उपस्थिति नहीं है। यहाँ जो अनेकता दिखाई देती है, वह वास्तविक नहीं है। साधारण दृष्टि से दिखाई पड़ने वाली द्वैत–द्वन्द्व की दशा मिथ्या है। आत्मतः और तत्त्वतः सभी एक हैं, अखण्ड हैं, अद्वैत हैं। सब कुछ एक ही ब्रह्मतत्त्व का प्रकट रूप है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की धुरी एक ही ब्रह्मतत्त्व है। वह एक तत्त्व ही अनेक प्रकार के गुणों को ग्रहण करके अनेक प्रकार की लीला कर रहा है। इसे ही अद्वैतदर्शन कहते हैं, इसे ही सत्–सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के बिना जीवन के कल्याण की कहीं

कोई संभावना उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि यह सिद्धान्त ही परस्पर सत्य, प्रेम, न्याय और पुण्य की व्यावहारिकता को जन्म देता है और सत्गुणों का संस्कार प्रदान करता है, सुसंस्कृति को जन्म देता है और यह सत्–सिद्धान्त ही संसाधनों के समुचित वितरण का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसप्रकार मानवजीवन की चारों आवश्यकताओं की पूर्ति के निम्नलिखित चार आधार प्रतिपादित होते हैं :–

1. ***संसाधन*** ***(RESOURCE)*** *: जीवननिर्वाह हेतु.*
2. ***संस्कृति*** ***(CULTURE)*** *: जीवननिर्माण हेतु.*
3. ***सभ्यता*** ***(CIVILIZATION)*** *: जीवनसम्मान हेतु.*
4. ***सिद्धान्त*** ***(PRINCIPLE)*** *: जीवनकल्याण हेतु.*

उपरोक्त चारों आधार ही मानवसमाज अथवा राष्ट्र को सकारात्मक स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। इन चारों में से किसी एक की भी उपेक्षा घातक सिद्ध होती है। क्योंकि आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिसप्रकार संसाधन की आवश्यकता होती है, उसीप्रकार से सांस्कारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है और उसीप्रकार व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभ्यता की आवश्यकता होती है और उसीप्रकार आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। यद्यपि ये संसाधन, संस्कृति, सभ्यता और सिद्धान्त के दो रूप हो सकते हैं– सकारात्मक और नकारात्मक। इन्हीं दोनों रूपों को सात्त्विक और दूषित भी कह सकते हैं। यदि ये चारों आधार किसी भी राष्ट्रीय अथवा सामाजिक व्यवस्था को सकारात्मक या सात्त्विक रूप से प्राप्त हो जाएँ, तो वह धन्य हो जाएगा।

9. सामाजिक न्याय का निर्धारण

सम और उचित– इन दो शब्दों की सन्धि से समुचित शब्द बनता है। अतः समुचित शब्द में समता और औचित्यता दोनों का समावेश है। इसीलिए समाज में समुचित अधिकारों और कर्तव्यों के निर्धारण को ही सामाजिक न्याय कहा गया है। यह समाज कैसे चले ? इसकी व्यवस्था का निर्धारण और संचालन कैसे हो ? यही न्याय का विषय है। इस समाजव्यवस्था के निर्धारक तत्त्व को ही संविधान कहते हैं। न्यायशील समुचित विधि–विधान ही संविधान है। समाज की सामाजिकता का अभिप्राय न्यायशीलता से है। सामाजिक न्याय को बनाए रखने के लिए निम्नलिखित चार तलों पर न्यायशीलता को बनाए रखना होगा :–

1. ***आर्थिक न्याय :*** *जीवननिर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की समुचित आपूर्ति हेतु।*
2. ***सांस्कारिक न्याय :*** *जीवननिर्माण सम्बन्धी आवश्यकताओं की समुचित आपूर्ति हेतु।*
3. ***व्यावहारिक न्याय :*** *जीवनसम्मान सम्बन्धी आवश्यकताओं की समुचित आपूर्ति हेतु।*
4. ***आध्यात्मिक न्याय :*** *जीवनकल्याण सम्बन्धी आवश्यकताओं की समुचित आपूर्ति हेतु।*

10. सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय व्यवस्था

सामाजिक न्याय का तात्पर्य चार प्रकार की न्यायशीलता से है– आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक। समाज में इन चारों तलों पर न्यायशीलता को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्था को न्यायशील बनाना आवश्यक होता है, क्योंकि मानवसमाज में न्याय अथवा अन्याय की धुरी राष्ट्रीय व्यवस्था ही है। एक न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था ही समाज में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध यात्मिक तलों पर न्यायशील समुचित व्यवहार को प्रतिष्ठित कर सकती है।

11. राष्ट्रीय व्यवस्था की न्यायशीलता

न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था का अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से है, जो राष्ट्र के समस्त नागरिकों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम होती है। बल्कि सार्वजनिक जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के महान उद्देश्य को सामने रखकर ही राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना की गई,

जो सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवनधारा को समुचित रूप से प्रवाहमान बनाए रख सके। एक ऐसी न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था को जन्म देने के लिए न्यायशील राष्ट्रीय नीतियों–नियमों अथवा विधियों–विधानों का निर्धारण एवं निर्माण आवश्यक है। न्यायशीलता को बनाए रखने के लिए लोकजीवन में लोकसहमति के आधार पर ही ऐसी नीतियों–नियमों आदि का निर्माण किया जाना चाहिए। लोकमत के बिना लोकव्यवस्था का गठन नहीं किया जाना चाहिए। लोकमत उसे कहते हैं, जिससे लोक में सभी के समुचित हितों–अधिकारों का निर्धारण होता हो और साथ ही सभी के लिए समुचित कर्तव्यों–उत्तरदायित्वों का निर्धारण भी होता हो। लोकमत ही लोकहित का निर्धारक है।

12. लोक अथवा राष्ट्र के स्वरूप का निर्धारण

किसी राष्ट्र को व्यावहारिक दृष्टि से चार तलों पर व्यवस्थित किया जा सकता है– 1.व्यक्ति, 2.परिवार, 3.समाज, 4.समष्टि। किसी भी मानवीय इकाई को व्यक्ति कहा गया है। व्यक्तियों की ऐसी कई इकाईयों के संयोग को परिवार कहा गया है। ऐसे कुछ परिवारों के संयोग को ग्राम अथवा समाज कहा गया है। और सम्पूर्ण सृष्टि को ही समष्टि कहा गया है। इस समष्टि को प्रकृति और पर्यावरण की भी संज्ञा दी जा सकती है। समष्टि में सृष्टि की सम्पूर्ण रचना के चारों संवर्गों का समावेश होता है– जड़पदार्थ, वृक्ष–वनस्पति, पशु–पक्षी, मनुष्य।

13. राष्ट्र या लोकजीवन के चारों अंगों की मौलिक आवश्यकताओं का प्रतिपादन

राष्ट्र के इन चारों व्यावहारिक तलों व्यक्ति, परिवार, समाज एवं समष्टि के अस्तित्व को सुव्यवस्थित बनाने के लिए लोकजीवन में न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकता उत्पन्न हुई। व्यक्ति को शुभ व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए समुचित शिक्षा–प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। परिवार को जीवित बनाए रखने के लिए समुचित आजीविका की आवश्यकता होती है। ग्राम या समाज को सुखी बनाए रखने के लिए समुचित सुविधाओं जैसे सड़क, बिजली, पानी, संचार, परिवहन, क्रीड़ांगन आदि की आवश्यकता होती है। समष्टि को शुभ अस्तित्व प्रदान करने के लिए समुचित संरक्षण की आवश्यकता होती है। जड़पदार्थ, वृक्ष–वनस्पति, पशु–पक्षी, मनुष्य आदि समष्टि के चारों अंगों को राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा समुचित संरक्षण प्रदान किया जाना ही चाहिए। अन्यथा इनका जीवन अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाएगा, सृष्टि का संतुलन ही बिगड़ जाएगा।

14. राष्ट्रीय सर्वकार के कर्तव्य और उत्तरदायित्व का निर्धारण

राष्ट्रीय जीवनधारा के चारों अंगों की समुचित व्यवस्था ही सरकार का प्रमुख कर्तव्य और मूल उत्तरदायित्व है। व्यक्ति, परिवार, समाज और समष्टि को सुव्यवस्थित बनाए रखकर ही राष्ट्रीय जीवनधारा को प्रवाहमान बनाए रखा जा सकता है। व्यक्ति को समुचित व्यक्तित्व सुलभ कराना सरकार का कर्तव्य है। परिवार को समुचित आजीविका सुलभ कराना भी सरकार का कर्तव्य है। समाज अथवा ग्रामक्षेत्र को समुचित सुखसुविधाएँ सुलभ कराना भी सरकार का कर्तव्य है। समष्टि अथवा सम्पूर्ण प्रकृति एवं पर्यावरण अथवा सम्पूर्ण जीवनसृष्टि को समुचित संरक्षण सुलभ कराना भी सरकार का कर्तव्य है। ये शिक्षा–प्रशिक्षण, आजीविका–रोजगार, सुख–सुविधा, संरक्षण–संश्रय का कर्तव्य सरकार के लिए उत्तरदायित्व के रूप में भी माना जाता है, क्योंकि सरकार के पास सार्वजनिक सहयोग के द्वारा करसंग्रह के रूप में एक राष्ट्रकोष का निर्माण किया जाता है, जो सरकार की आय के रूप में देखा जाता है। सरकार ने जनता से जो धन 'कर' अथवा 'सहयोग' के रूप में प्राप्त किया है, वह जनता के प्रति उतनी धनराशि के लिए उत्तरदायी हो जाती है। अतः सरकार का दायित्व जनता के प्रति करसंग्रह के कारण ही उत्पन्न होता है, जिससे कि वह उतनी राशि तक सार्वजनिक जनता के लिए समुचित रूप से परिव्यय कर सके। इसप्रकार किसी भी राष्ट्रीय सरकार का जनता के प्रति निम्नलिखित कर्तव्य अथवा उत्तरदायित्व निर्धारित होता है :–

1. प्रत्येक व्यक्ति को समुचित शिक्षा-प्रशिक्षण प्रदान करने का कर्तव्य।
2. प्रत्येक परिवार को समुचित आजीविका-रोजगार प्रदान करने का कर्तव्य।
3. प्रत्येक ग्रामक्षेत्र को समुचित सुख-सुविधा प्रदान करने कर्तव्य।
4. प्रत्येक सृष्टिसंवर्ग को समुचित संरक्षण-संश्रय प्रदान करने का कर्तव्य।

15. राष्ट्रीय व्यवस्था

किसी भी राष्ट्र में न्यायशील सार्वजनिक जीवनव्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को समुचित शिक्षा–प्रशिक्षण चाहिए, परिवार को समुचित आजीविका–रोजगार चाहिए, ग्राम को समुचित सुखसुविधा चाहिए और समष्टि को समुचित संरक्षण चाहिए। किन्तु यह शिक्षा, यह आजीविका, यह सुखसुविधा, यह संरक्षण प्रदान करने का कार्य निश्चय ही सार्वजनिक कार्य है। लोकजीवन में इन चारों सार्वजनिक सेवाओं अथवा कार्यों को सम्पादित करने के लिए ही लोक में राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि इन चारों कार्यों को किसी भी प्रकार से एकाकी रुप से सम्पादित नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए सार्वजनिक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि एकाकी प्रयत्नों द्वारा नहीं बनाए जा सकते। जीविकोपार्जन के संसाधन या रोजगार का निर्माण भी एकाकी प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जा सकता। सड़क, रेल, बिजली, डाक, संचार आदि की व्यवस्था भी एकाकी प्रयत्नों द्वारा संभव नहीं होती। बैंक, बीमा, चिकित्सालय, सुरक्षालय, न्यायालय आदि का निर्माण भी एकाकी प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जा सकता। अतः ये शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि सार्वजनिक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित करने के लिए एक सर्वकारिक संस्था की आवश्यकता उत्पन्न होती है, जिसे सर्वकार या सरकार या गवर्नमेन्ट कहते हैं। इन चारों प्रकार के सार्वजनिक कार्यो को सम्पादित करने के लिए ही एक सर्वकारिक कोष का निर्माण किया जाता है, जिसे सार्वजनिक जनता के समुचित सहयोग से निर्मित किया जाता है। इस सार्वजनिक सहयोग को ही 'कर' कहते हैं। 'कर' का तात्पर्य 'हाथ' से है। हाथ लगाना ही सहयोग करना कहलाता है। इस 'कर' का निर्धारण इसप्रकार किया जाता है कि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का यथाशक्ति समुचित योगदान सुनिश्चित हो। मूल बात यह है कि इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, वह सब कुछ समानरुप से सबका है। अतः कोई कितना भी 'कर' या सहयोग जमा करे, वास्तव में वह सबकी ओर से सबका ही 'कर' जमा करता है, यही दार्शनिक दृष्टिकोण है। क्योंकि सबमें मूलरूप से एक ही आत्मा का वास है, सबका एक ही निर्माता है, सब एक ही मूलतत्त्व से निर्मित हैं। केवल जीवनविकासस्तर में ही भेद है। गुणों, संस्कारों, अभ्यासों का ही भेद है। आत्मिक भेद कदापि नहीं है। सबमें वही पदार्थ है, वही प्रकृति है, वही प्राण है, वही आत्मा है। अतः सबकुछ सबका है, इसी सिद्धान्त पर सबको समुचित अधिकारी माना जाता है और सबके समुचित कर्तव्यों एवं अधिकारों का निर्धारण किया जाता है।

16. मानवजीवनव्यवस्था

''हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र मानव होना चाहिए। जो 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के न्याय के अनुसार समष्टि का जीवमान प्रतिनिधि एवं उसका उपकरण हो। भौतिक उपकरण मानव के सुख के साधन हैं साध्य नहीं। जिस व्यवस्था में केवल एक औसत मानव अथवा शरीर, मन, बुद्धि या आत्मा युक्त अनेक ऐषणाओं से प्रेरित पुरुषार्थचातुष्ट्यशील पूर्णमानव के स्थान पर एकांगीमानव का ही विचार किया जाय, वह अधूरी है। हमारा आधार एकात्म मानव है। जो एकात्म समष्टियों का एकसाथ प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। एकात्म मानववाद के आधार पर हमें जीवन की सभी व्यवस्थाओं का विकास करना होगा।''

-(दीनदयाल उपाध्याय, ग्रन्थ : कर्तृत्व एवं विचार, पृष्ठ : 435)

समस्त मानवीय इकाईयों को एकात्मता के ज्ञानसूत्र से बाँधकर मानवजीवन के चारों आयामों को सुव्यवस्थित बनाना ही संविधान का कर्तव्य है। मानवजीवन की सार्थकता गुण, धन, सुख, स्वस्ति की प्राप्ति में ही सन्निहित है। गुण, धन, सुख, स्वस्ति को ही वैदिकभाषा में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कहते हैं, जो चार पुरुषार्थों के नाम से विख्यात हैं। इन चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि ही मूलभूत मानवाधिकार है।

17. मानवाधिकारों का निर्धारण

मानवजीवन की चार सार्थकताएँ हैं और यही चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। जीवन की सार्थकता जिन कर्मों से सिद्ध होती है, उसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय अनादिकाल से सर्वविदित हैं– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि ही मानवजीवन का मूल लक्ष्य है। अतः इन चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि का अधिकार ही मूलभूत मानवाधिकार है। आइए इन चारों पुरुषार्थों को भलीभाँति समझ लें। वैदिकभाषा में 'गुण' को ही 'धर्म' कहा गया है, 'धन' को ही 'अर्थ' कहा गया है, 'सुख' को ही 'काम' कहा गया है, 'स्वतन्त्रता' को ही 'मोक्ष' कहा गया है। इसप्रकार गुण, धन, सुख और स्वस्ति की प्राप्ति ही मानवजीवन का लक्ष्य है और इन चारों अधिकारों की प्राप्ति को ही आधुनिक भाषा में मानवाधिकार कहा जा सकता है। अतः मानवसमाज में चार मानवाधिकारों का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप से होता है :–

1. गुण प्राप्ति का मानवाधिकार
2. धन प्राप्ति का मानवाधिकार
3. सुख प्राप्ति का मानवाधिकार
4. स्वस्ति प्राप्ति का मानवाधिकार

18. स्वस्ति, स्वास्थ्य, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता

*ये चारों शब्द वास्तव में पर्यायवाची हैं। इन चारों शब्दों में स्वावलम्बिता छिपी हुई है। आत्मनिर्भरता ही स्वावलम्बिता है। स्वयं से स्वयं में निर्भर हो जाना ही स्वतन्त्रता अथवा स्वावलम्बिता है। भगवद्गीता कहती है–**'आत्मन्येवात्मनः तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।'** यह स्थितप्रज्ञता ही परमकल्याण की दशा है। इसी में स्वस्ति, स्वास्थ्य, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता निहित है। इसी में मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, शान्ति, उद्धार, आनन्द, कल्याण आदि निहित है। परतन्त्रता, पराभूतता, पराश्रयिता, पराजितता, परावलम्बिता, परजीविता आदि की समाप्ति इसी स्वस्ति में सन्निहित है। रोग, दोष, आधि, व्याधि, दुःख, कष्ट, अशान्ति, भय, मृत्यु, दासता, बन्धन, गुलामी, शोषण, दलन, दमन, उत्पीड़न आदि से छुटकारा इसी स्वस्ति में सन्निहित है।*

19. जनाधिकारों का निर्धारण

उपरोक्त चारों मानवाधिकारों की उपलब्धता ही सार्वजनिक जीवनधारा के कल्याण का एकमात्र आधार है। अतः किसी भी सार्वजनिक संस्थारूपी राष्ट्रीय सर्वकार का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रीय जनता के इन चारों मानवाधिकारों की रक्षा करे और इन चारों मानवाधिकारों की रक्षा हेतु जनता के लिए चार प्रकार के जनाधिकारों का निर्धारण करे। क्योंकि 'गुण' की प्राप्ति केवल शिक्षा–प्रशिक्षण के द्वारा ही संभव होती है। 'धन' की प्राप्ति केवल आजीविका अथवा रोजगार के संसाधनों द्वारा ही संभव होती है। 'सुख' की प्राप्ति केवल सुविधाओं द्वारा ही संभव होती है। 'स्वतन्त्रता' की प्राप्ति केवल संरक्षण द्वारा ही संभव होती है। इसप्रकार गुण, धन, सुख और स्वतन्त्रता रूपी मानवाधिकारों की सुलभता सरकार द्वारा शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा और संरक्षण रूपी जनाधिकारों के द्वारा ही संभव हो सकती है। अतः सार्वजनिक जीवन में इन चारों जनाधिकारों की प्रतिष्ठा किसी भी राष्ट्रीय सरकार का सर्वोच्च कर्तव्य और उत्तरदायित्व है। मानवसमाज में मानवता और मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा केवल इन्हीं चारों जनाधिकारों द्वारा ही की जा सकती है। मानवता की रक्षा का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय संभव नहीं है। अतः सरकार द्वारा राष्ट्रीय जीवनव्यवस्था के अन्तर्गत निम्नलिखित चारों जनाधिकारों का निर्धारण किया जाना चाहिए :–

1. शिक्षा प्राप्ति का जनाधिकार
2. आजीविका प्राप्ति का जनाधिकार
3. सुखसुविधा प्राप्ति का जनाधिकार
4. संरक्षण प्राप्ति का जनाधिकार

20. राष्ट्रीय कोष का निर्धारण

सार्वजनिक सहयोग से निर्मित सर्वकारिक कोष को ही राष्ट्रीय कोष भी कहा जाता है। जिस पर सार्वजनिक जनता में से प्रत्येक सदस्य को समुचित अधिकार है। लोकजीवन में इस सार्वजनिक कोष से ही शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण आदि सार्वजनिक सेवाओं को सम्पादित करने के लिए गठित की गई सरकार का यह एकमात्र नैतिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व है कि वह इन चारों प्रकार के जनहित के कार्यों को न्यायपूर्वक समुचित रीति से सम्पादित करे। इस राष्ट्रकोष पर राष्ट्र के समस्त नागरिकों का समान अधिकार है। जनता का हित इस राष्ट्रकोष में निहित है। इस राष्ट्रकोष से यदि जनहित के उपरोक्त चारों कर्तव्यों को पूरा न किया जाए, तो यह जनता के साथ छल है, कपट है, धोखा है, षड़यन्त्र है, अन्याय है।

21. सार्वजनिक कोष का सार्वजनिक हितों में नियोजन

विगत हजारों वर्षों से लोकमत और लोकहित की उपेक्षा करके छल अथवा बलपूर्वक इस जनकोष पर आतंकियों, आततायियों, दुष्टों, धूर्तों, स्वार्थियों, कमीनों, निषादों (निषिद्ध आचरण करने वालों), निशाचरों, पाखण्डियों, लुटेरों, अपराधियों, दुष्क्रान्ताओं, दुर्योधनों, कंसों, रावणों, सद्दामों, ईदीअमीनों, जिआउलहकों, मुशर्रफों, चंगेजों, तैमूरलंगों, गजनबियों, जयचन्दों और द्वन्द्ववादी दूषित राजनीतिज्ञों का कब्जा देखा गया है, जिसके परिणामस्वरुप जनहित के उक्त चारों कार्यों अथवा चारों सार्वजनिक सेवाओं का सम्पादन नहीं हो सका। अतः सार्वजनिक जीवन में अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा एवं असंरक्षण का वातावरण अत्यन्त विकराल रुप में भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त राष्ट्रों में दिखाई दे रहा है। चाहिए तो यह था कि यह सार्वजनिक धन रुपी राष्ट्रकोष राष्ट्रीय जनता के हित में न्यायपूर्वक परिव्ययित किया जाता; जिससे जनता में से प्रत्येक व्यक्ति को समुचित शिक्षा, प्रत्येक परिवार को समुचित आजीविका (रोजगार), प्रत्येक क्षेत्र को समुचित सुखसुविधा एवं समष्टि के प्रत्येक संवर्ग को समुचित संरक्षण प्राप्त होता; व्यक्ति, परिवार, ग्राम और प्रकृति को पूर्ण सुव्यवस्था प्राप्त होती; सर्वत्र सुख–शान्ति, श्री–समृद्धि, प्रगति–उन्नति, शुभता–सुन्दरता का दर्शन होता।

22. सुव्यवस्था और संविधान

न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था और न्यायशील संविधान के अभाव में संसार में चारों ओर दुर्गति का वातावरण बन चुका है। चहुँओर वैषम्य है, विषमता है, अनौचित्यता है। एक ओर सोने की लंका बनी हुई है, दूसरी ओर फूस की झोपड़ी और कहीं तो वह भी नहीं है। कोई जमींदार है, तो कोई बेजमीन। आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक आदि चारों तलों पर विषमता का मूल कारण विषंविधान है। न्यायशील संविधान ही इस विषंविधान की विषाक्त समस्या का सम्यक समाधान है। न्यायशील संविधान वह है, जो राष्ट्र के समस्त नागरिकों के प्रति समदर्शी होता है और सभी नागरिकों को समुचित शिक्षा, समुचित आजीविका, समुचित सुखसुविधा एवं समुचित संरक्षण प्रदान करता है। न्यायशील संविधान वह है, जो राष्ट्रीय सरकार का यह न्यायशील कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व निर्धारित करता है कि वह व्यक्ति को समुचित शिक्षा, परिवार को समुचित आजीविका, समाज को समुचित सुखसुविधा एवं समष्टि को समुचित संरक्षण प्रदान करे और जनता से 'कर' द्वारा अथवा सार्वजनिक सम्पदा से उपार्जन द्वारा प्राप्त आय से निर्मित राष्ट्रकोष को प्रतिवर्ष शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि सार्वजनिक सेवाओं के लिए परिव्ययित करे। यदि कोई सरकार राष्ट्रीय जीवन के हित में शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि चारों सार्वजनिक कार्यों पर राष्ट्रीयधन अथवा जनकोष को न्यायपूर्वक समानरुप से व्यय नहीं करती, तो वह अपराधी है।

23. सार्वजनिक सेवाकार्यों का निर्धारण

राष्ट्र के चारों अंगों व्यक्ति, परिवार, समाज एवं समष्टि के लिए शिक्षा–प्रशिक्षण सम्बन्धी सेवाएँ, रोजगार–आजीविका सम्बन्धी सेवाएँ, सुखसुविधा सम्बन्धी सेवाएँ, संरक्षण सम्बन्धी सेवाएँ आदि के रुप में चार प्रकार की जनसेवाएँ सिद्ध होती हैं। किसी भी राष्ट्र में जनहित के ये केवल चार ही सार्वजनिक कार्य होते हैं। अन्य कोई भी पाँचवाँ कार्य परिकल्पित भी नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय जीवन के ये केवल

चार ही कार्य होते हैं क्योंकि राष्ट्रीय व्यवस्था के केवल चार ही व्यावहारिक आयाम होते हैं– व्यक्ति, परिवार, समाज, समष्टि। इन चारों व्यावहारिक तलों की चार ही मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिन्हें क्रमशः शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि नामों से जाना जाता है। शिक्षा के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित नहीं होता। आजीविका के बिना परिवार का जीवनयापन नहीं होता। सुखसुविधा के बिना ग्रामसमाज का विकास नहीं होता। संरक्षण के बिना समष्टि का कल्याण नहीं होता। इसप्रकार राष्ट्र के चारों आयामों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए निम्नलिखित सेवाकार्यों का प्रतिपादन होता है :–

1. ***व्यक्ति के लिए समुचित शिक्षा-प्रशिक्षण***
2. ***परिवार के लिए समुचित आजीविका-रोजगार***
3. ***ग्रामसमाज के लिए समुचित सुखसुविधा***
4. ***समष्टि के लिए समुचित संरक्षण***

24. राष्ट्रकोष का न्यायशील संवितरण : बजट निर्धारण

यदि किसी राष्ट्रकोष का 25% भाग शिक्षा पर व्यय किया जा सके तो राष्ट्र के समस्त नागरिकों के बच्चों को 25 वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण शिक्षा–प्रशिक्षण प्रदान किया जा सकता है। इसीप्रकार यदि राष्ट्रकोष के 25% भाग को आजीविका (रोजगार) के लिए व्यय किया जा सके, तो राष्ट्र के समस्त नागरिकों को प्रति परिवार आधार पर एक रोजगार प्रदान किया जा सकता है। राष्ट्र में तब कोई व्यक्ति बेरोजगार या बेकार नहीं होगा। सरकार इस राष्ट्रीय बजट से कृषिभूमि, वाणिज्यिकपूँजी, सरकारीवेतन, नेतृत्वभत्ता प्रदान कर सकती है। नागरिकों की वरीयतानुसार इन चारों संसाधनों में से कोई एक संसाधन प्रति परिवार प्रदान किया जा सकता है। परिवार का अभिप्राय कोई भी पति–पत्नी और उनके 25 वर्ष से कम आयु के बच्चों को सम्मिलित किया जा सकता है, अथवा कोई भी समूह जो 2 से 5 या 10 तक की संख्या वाला हो वह भी परिवार कहा जा सकता है।

इसीप्रकार यदि राष्ट्रकोष के वार्षिक बजट के अगले 25% भाग को सुखसुविधाओं जैसे सड़क, पानी, बिजली आदि पर नियोजित किया जाए और इस सुखसुविधाओं का वितरण प्रतिग्राम अथवा प्रतिक्षेत्र आधार पर किया जाए और 5 से 10 हजार की जनसंख्या को एक ग्रामक्षेत्र माना जाए तो राष्ट्र में समस्त क्षेत्रों का समुचित विकास संभव हो जाएगा। गाँव–शहर के बीच उत्पन्न वैषम्य को समाप्त किया जा सकेगा। इसीप्रकार यदि राष्ट्रकोष के वार्षिक बजट के 25% भाग का नियोजन यदि समष्टि जीवन अथवा सम्पूर्ण प्रकृति एवं पर्यावरण पर खर्च किया जाए, तो सम्पूर्ण जीवन समष्टि जिसमें जड़पदार्थ, वृक्ष–वनस्पति, पशु–पक्षी एवं मनुष्य आदि सबका समावेश है, को समुचित संरक्षण प्रदान किया जा सकता है। संरक्षण सम्बन्धी सार्वजनिक सेवाओं के अन्तर्गत बैंकिंग, बीमा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, न्यायालय, सुरक्षालय, सहायता, सहयोग, आश्रय–प्रश्रय प्रदान किया जा सकता है।

इसप्रकार ये शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा, संरक्षण आदि चारों सार्वजनिक सेवाओं के लिए ही वार्षिक राष्ट्रीय बजट का निर्धारण किया जाना ही न्यायोचित है। इन्हीं चारों प्रकार की सार्वजनिक सेवाओं के लिए ही सर्वकार (सरकार) का गठन होता है। इन्हीं चारों प्रकार की सार्वजनिक सेवाओं के लिए ही जनता से 'कर' लिया जाता है। क्योंकि अन्य कोई पाँचवाँ–छठवाँ कार्य सार्वजनिक हित की दृष्टि से परिकल्पित भी नहीं किया जा सकता है। इन्हीं चारों कार्यों से ही जनता के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थ चतुष्टयों की पूर्ति हो जाती है। क्योंकि गुण ही धर्म है जो शिक्षा से प्राप्त होता है, धन ही अर्थ है जो आजीविका या रोजगार के संसाधनों से प्राप्त हो जाता है, सुखभोग ही काम है जो सुविधाओं से प्राप्त हो जाता है, स्वतन्त्रता (स्वस्ति–मुक्ति) ही मोक्ष है जो संरक्षण से प्राप्त हो जाता है। इसप्रकार पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि से मानवजीवन के सभी लक्ष्य पूर्ण हो जाते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र समृद्धि, सुसंस्कृति, सुसभ्यता और स्वस्ति (सुख–शान्ति) को प्राप्त हो जाता है। सभी नागरिक हृष्ट–पुष्ट, गुणी–ज्ञानी, उन्नत–विकसित, सुन्दर–प्रभावपूर्ण, आर्य–श्रेष्ठ सिद्ध हो जाते हैं। धरती पर ही स्वर्गतुल्य स्वर्णिम, सुखद वातावरण प्रकट हो जाता है। मार–काट, चोरी–डकैती, हिंसा–आतंक, आक्रमण–बलात्कार, संघर्ष–युद्ध, आन्दोलन–जेहाद आदि समाप्त हो जाते हैं।

25. चारों जनाधिकारों द्वारा सामाजिक सभ्यता का उदय

राष्ट्र में ये शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण आदि उपरोक्त चारों जनाधिकारों अथवा सरकारी कर्तव्यों के प्रतिष्ठित होते ही मानवसमाज में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक तलों पर न्यायशीलता पनपने लगती है। अन्याय-अनीति रुपी विषमता, असमानता समाप्त होने लगती है। लोगों के बीच पारस्परिक समन्वय, सामंजस्य, समरसता, समता, सामाजिकता प्रकट होने लगती है। यह न्यायशील सामाजिक सहजीविता ही मानवीय सभ्यता है। जिसमें एकता, बन्धुता, सम्बद्धता, सहकारिता, सहयोगिता, सहिष्णुता आदि के रूप में पारस्परिक प्रेम के लक्षण स्वतः प्रकट होने लगते हैं। इस मानवीय सभ्यता में केवल मानवता ही शेष रहती है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि कुराजनैतिक द्वन्द्वभेद स्वतः समाप्त हो जाते हैं। 'डिवाइड एण्ड रूल' की कुत्सित राजनीति स्वतः मर जाती है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि के पारस्परिक संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था में नागरिकों को इन मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों, मठों, गुरुद्वारों आदि को बनाने-बिगाड़ने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। तब न कोई अल्पसंख्यक होता है, न कोई बहुसंख्यक। तब न कोई आदिवासी होता है, न कोई आगन्तुक। तब न कोई शोषक होता है, न कोई शोषित। तब न कोई पक्ष होता है, न कोई विपक्ष। तब न कोई राजवंश होता है, न कोई प्रजावंश। तब न कोई दलित होता है, न कोई दलक। बल्कि सबको समान रूप से उचित वरीयता, अर्हता, पात्रता के अनुसार सभी पदों पर पहुँचने, सभी कर्मों को करने का न्यायशील अधिकार होता है। सबको तदनुसार सम्पदाओं पर स्वामित्व का समुचित अधिकार होता है। तब छल, बल, दल, वंश, जाति, क्षेत्र, लिंग, रंग, कुल, गोत्र, नाम, रूप आदि आधारों पर चलने वाली द्वन्द्वात्मक कुराजनीति पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

26. धूर्तों की धूर्तता से सावधान!

धूर्त राजनीतिक व्यक्ति राष्ट्र में समान नागरिक 'आचारसंहिता' तो लागू करने तत्पर हैं किन्तु समान नागरिक 'अधिकारसंहिता' लागू करने के नाम पर चुप हैं। जनता की मौलिक आवश्यकताओं के अनुरूप जनाधिकारों का निर्धारण नहीं करते। देखो! कैसी चालाकी है? शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण आदि जनाधिकारों को न्यायशील बनाना नहीं चाहते कि सबको समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा, समुचित संरक्षण प्राप्त हो, ताकि राष्ट्र में सभी नागरिक समुचित रूप से सम्माननीय जीवन जी सकें। ये धूर्त राजनैतिक व्यक्ति जनता के साथ धोखा कर रहे हैं। पहले बचपन को अशिक्षित बनाते हैं, फिर प्रौढ़शिक्षा चलाते हैं। पहले युवाओं का रोजगार छीन लेते हैं, फिर साल में 100 दिन की 'रोजगार गारण्टी योजना' चलाते हैं। बाकी साल में 265 दिनों में क्या लोग मिट्टी खाएँगे? किन्तु गरीबों को मिट्टी भी तो सुलभ नहीं है। लुटेरों के साम्राज्य में लूट ही अमीरी का आधार है। जो लूटने में असमर्थ है अथवा जो लुट जाता है, वही गरीब है। फिर कोई गरीब जब लूटने का दुस्साहस जुटा लेता है, तब वह भी अमीर हो जाता है और उसके द्वारा लुटे-पिटे लोग गरीब हो जाते हैं। लूट की संस्कृति में जो आज का अमीर है, वह कल का गरीब है और जो आज का गरीब है, वह कल का अमीर है। गरीब से अमीर और अमीर से गरीब बनने का यह कुचक्र ही जंगलराज की जीवनलीला है। इस धूर्ततापूर्ण जंगलराज से निवृत्त होने के लिए न्यायशील मंगलराज की स्थापना आवश्यक है। यह व्यवस्था परिवर्तन की बात है, व्यक्ति परिवर्तन की नहीं!

27. व्यक्तिगत आचार की स्वतन्त्रता

आचारसंहिता का जहाँ तक प्रश्न है, वह सांस्कृतिक मुद्दा है। संस्कृति से संस्कार बनते हैं। संस्कार से गुण और स्वभाव बनता है। स्वभाव का उत्थान-पतन संस्कृति के द्वारा ही होता है। लोगों को अपना उत्थान-पतन करने की स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए। जो वयस्क है, वह अपनी आचारसंहिता के लिए स्वतन्त्र है कि जो जैसा चाहे वैसा रहन-सहन, आहार-विहार, वेश-भूषा, बोली-भाषा अपनाए। किसी की इच्छा आकांक्षा, अभिरुचि को दबाना उसे दास बनाने जैसा है। सार्वजनिक हित के मुद्दों पर ही कुछ अनिवार्यताएँ, अपरिहार्यताएँ स्वीकार की जा सकती हैं किन्तु व्यक्तिगत मुद्दों पर तो प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए।

गुण तीन ही प्रकार के होते हैं– सात्त्विक, राजस, तामस। इन्हें ही क्रमशः शुभ, शुभाशुभ, अशुभ कहा जा सकता है। जो जैसी संस्कृति अपनाता है, वह वैसे संस्कार वाला हो जाता है। शुभ संस्कृति से शुभ गुण बनते हैं, अशुभ संस्कृति से अशुभ गुण बनते हैं। संस्कार ही गुण है, स्वभाव है, प्रकृति है। कोई मांसाहार करता है, कोई शराब पीता है, कोई शाकाहारी है, कोई एक विवाह करता है, कोई अनेक विवाह करता है, कोई तलाक देता है अथवा कोई विवाह नहीं करना चाहता। लोगों को उनके निजी निर्णयों में स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए। कोई मूर्तिपूजा नहीं करना चाहता, मत करे। कोई मूर्तिपूजा करना चाहता है, करे। कोई मुस्लिम बनना चाहता है, बने। कोई ईसाई बनना चाहता है, बने। कोई सिख बनना चाहता है, बने। जो जैसा चाहता है, वह वैसा करे। यदि वह वयस्क है तो वह अपने निजी जीवन के निर्णय स्वयं करने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु यदि वह दूसरे पर बलपूर्वक अपनी इच्छा, अभिरुचि, मान्यता, प्रथा, परम्परा थोपना चाहता है, तो यह अन्याय है। यदि कोई किसी को बलपूर्वक हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि बनाना चाहता है, बलपूर्वक वेशभूषा पहनाना चाहता है अथवा बलपूर्वक मूर्तिपूजा कराना चाहता है, बलपूर्वक मूर्तिपूजा छुड़ाना चाहता है, बलपूर्वक विवाह कराना चाहता है, बलपूर्वक विवाह छुड़ाना चाहता है, तो वह अपराधी है, दुष्ट है, अन्यायी है, अनैतिक है, अवैध है। किसी की व्यक्तिगत इच्छा उसके निजी हितों के लिए प्रशस्त है। किन्ही की पारस्परिक सहमति उनके पारस्परिक हितों के लिए प्रशस्त है। ऐसे व्यक्तिगत और पारस्परिक हितों का संरक्षण होना ही चाहिए। ऐसे व्यक्तिगत और पारस्परिक इच्छाओं की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित होनी ही चाहिए।

28. निजी स्वतन्त्रता वही है, जो दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं सिद्ध होती

निजी मामलों में कोई भी वयस्क व्यक्ति निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु दूसरों के मामलों में नहीं। आप अपनी छड़ी घुमाते हुए सड़क पर चल सकते हैं, किन्तु वहीं तक जहाँ कि दूसरे की नाक न टकराए। दूसरों के निजी क्षेत्र में दखल देने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। दूसरे के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश के लिए उसकी सहमति अनिवार्य है। दूसरे की सहमति के बिना दूसरे के निजी मामलों में दखल देना अपराध है। किन्तु यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि बालक, अवयस्क, मूर्ख, अज्ञानी, विक्षिप्त, रुग्ण, विपदाग्रस्त, दुःखी और दुष्ट होने पर उसकी सहमति का भी महत्त्व नहीं रह जाता। सहमति तो केवल वयस्क, बुद्धिमान, स्वस्थ, सुखी और शिष्ट व्यक्ति की ही मान्य हो सकती है। सहमति के लिए अयोग्य माने गए लोगों के लिए उनके माता-पिता, अभिभावक, संरक्षक, प्रशासक, नायक आदि ही उत्तरदायी होते हैं, जिनका कर्तव्य है कि वे सहमति के लिए अयोग्य माने गए उन व्यक्तियों के हितों का संरक्षण करें।

29. राष्ट्र की परिभाषा

राष्ट्र का तात्पर्य जनता से है। शब्दकोश के अनुसार राष्ट्र का अर्थ है– लोकजीवन। सार्वजनिक जीवनधारा ही राष्ट्र है। इस राष्ट्रीय जीवनधारा को सफलतापूर्वक प्रवाहमान बनाए रखने के लिए एक सकारात्मक राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है। यह राष्ट्रीय व्यवस्था यदि सात्त्विक एवं सकारात्मक हो, तो जीवनधारा सुखदरूप से बहती है। यदि यह राष्ट्रीय व्यवस्था दूषित हो, तो जीवनधारा दुःखदरूप से बहती है और भीषण संत्रास और संकट उपस्थित करती है। राष्ट्र शब्द में राज्+तृ की सन्धि है। इसप्रकार राष्ट्र शब्द भी राजतन्त्र की उपज है। अतः 'राष्ट्र' शब्द के स्थान पर 'लोक' शब्द अधिक उचित है।

इस राष्ट्र या लोकव्यवस्था के गठन हेतु एक न्यायशील सात्त्विक संविधान एवं सर्वहितकारी सर्वकार का गठन किया जाता है। सार्वजनिक कार्यों के सम्पादन हेतु इस राष्ट्रीय व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक राष्ट्रीय कोष की आवश्यकता होती है ताकि उन सार्वजनिक सेवाओं को सम्पादित करने सम्बन्धी परिव्ययों की परिपूर्ति की जा सके।

३०. विधान की मान्यता और अमान्यता

राष्ट्र में कौन सा विधि–विधान, नीति–नियम, आदेश–निर्देश, प्रथा–परम्परा मान्य है, और कौन सा अमान्य है? इस बात का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। वास्तव में जो विधि–विधान, नीति–नियम, आदेश–निर्देश, प्रथा–परम्परा आदि सार्वजनिक जीवन अथवा लोकजीवन अथवा राष्ट्र के समस्त नागरिकों के हितों को परस्पर समान और उचित रूप से संरक्षण प्रदान करता है, वही मान्य है और जो सार्वजनिक हितों को समुचित संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध होता है, वह अमान्य है। यदि कोई राजा अथवा प्रशासक अथवा नेता अथवा गुरु अथवा विधाता जनता पर विषम और अनुचित विधि–विधान, नीति–नियम, आदेश–निर्देश, प्रथा–परम्परा आदि थोपता है, तो वह जनता द्वारा अमान्य किया जाना चाहिए। अन्यथा जनता भी अन्यायी और पापी ठहरेगी।

महात्मा गाँधी का वचन है– ***''अपनी गिरी हुई दशा में हम यह मान लेते हैं कि कानून जो कहता है उसे करना हमारा फर्ज है, धर्म है। अगर लोग एक बार यह समझ लें कि जो कानून हमें अन्यायकारी जान पड़े उसको मानना नामर्दी है तो फिर किसी का जोर जुल्म हमें बाँधने में समर्थ नहीं हो सकता। यह स्वराज्य की कुंजी है।***

यह मानना नास्तिकपन और वहम है कि बहुसंख्यक की बात अल्पसंख्यक को माननी ही चाहिए। ऐसी मिसालें हजारों मिलेंगी जिनमें बहुतों की कही हुई बात गलत और थोड़ों की कही हुई बात सही साबित हुई है। दुनिया में जितने भी सुधार हुए हैं सभी थोड़े से आदमियों की कोशिशों से हुए हैं, जिन्होंने बहुतों के विरोध का सामना करते हुए उनके लिए यत्न किया। ठगों के गाँव में अधिकांश जन तो यही कहेंगे कि ठगविद्या सीखनी ही चाहिए। तो क्या साधु पुरुष भी ठग बन जाए? हर्गिज नहीं। अन्यायकारी कानून को भी मानना, पालना हम पर फर्ज है, यह वहम जब तक हमारे दिमाग से दूर न होगा तब तक हमारी गुलामी जाने वाली नहीं और केवल सत्याग्रही ऐसे वहम को दूर कर सकता है।'' -(महात्मागाँधी, पुस्तक : मेरे सपनों का भारत)

'नि' धातु से न्याय शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है– चलाना, ले जाना, मार्गदर्शन करना, नेतृत्व करना आदि। नय और अनय को ही न्याय और अन्याय कहते हैं। जो हमें चलाता है उसे नयन कहते हैं। नयन को ही नेत्र कहते हैं। नेत्र के द्वारा देखकर ही हम चलते हैं। नेत्र को ही ज्ञान, बुद्धि, निर्णय, प्रकाश, विवेक आदि कहा जाता है। नेत्रों से ही नेतृत्व संभव होता है। नेत्रहीनता हमें सही नेतृत्व प्रदान नहीं कर सकती। अन्धों के नेतृत्व में चलने वालों की दशा ***'अन्धो अन्धा ठेलिया दोनों कूप पड़न्त'*** *वाली होती है। अतः सत्ज्ञानचक्षुसम्पन्न जनों के नेतृत्व एवं मार्गदर्शन में ही कुशल संभव है। इसीप्रकार भावनाशील छातीवान लोगों के संरक्षण में ही क्षेम संभव है। नेत्रहीन नेतृत्व और हृदयहीन प्रशासन सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश कर डालते हैं। क्योंकि उनके द्वारा अन्यायी नियमों–विधानों का निर्माण एवं कार्यान्वयन होता है और ये अन्यायी विषंविधान हमें विनाश के पथ पर ही ले जाते हैं। जो कोई भी प्रजा अथवा जनता अन्यायी नियमों अथवा विषंविधानों को ही धर्म अथवा कर्तव्य मानकर भेड़ की भाँति चलते चले जाते हैं, वे निश्चय ही आगे जाकर खड्ड में गिरते हैं और भेड़ियों के शिकार होते हैं। विद्वानों ने ठीक ही कहा है– अन्याय करने वाला ही नहीं बल्कि अन्याय सहने वाला भी अपराधी है। अतः द्वन्दात्मक अन्यायी नियम एवं विषम विधान सर्वथा परित्याज्य है।*

३१. संविधान अथवा विषंविधान

विधान दो प्रकार के होते हैं– संविधान और विषंविधान। ये दोनों विधान परस्पर विपरीत परिणाम वाले हैं। संविधान कल्याणकारी है। विषंविधान विनाशकारी है। संविधान के द्वारा भारतराष्ट्र का निर्माण होता है। विषंविधान के द्वारा आरतराष्ट्र का निर्माण होता है। जो प्रकाश में रत है, वही भारत है। जो अन्धकार में रत है, वही आरत है। किन्तु संविधान और विषंविधान में अन्तर क्या है? इस बात का विचार किया जाना भी आवश्यक है। समता पर आधारित विधान ही संविधान है। विषमता पर आधारित विधान ही विषंविधान है। समता को ही न्याय कहते हैं, विषमता को अन्याय कहते हैं। विषमता

को मिटाने का एक ही उपाय है कि समता को प्रतिष्ठित किया जाए। सार्वजनिक जीवन में जनता के पारस्परिक हितों में विषमता का मूल कारण विधाननिर्माण सम्बन्धी दोष है। विधान का निर्माण करते समय यदि विधाताओं द्वारा समता को आधार मानकर राष्ट्र के समस्त नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण समुचित रूप से किया जाए, तो राष्ट्र में विषमता का वातावरण उत्पन्न ही नहीं होता। किन्तु जब विधान का निर्माण करते समय विधाताओं द्वारा नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों के निर्धारण में विषमता को आधार मान लिया जाता है, तब सम्पूर्ण राष्ट्र में जनता के बीच पारस्परिक वैषम्य का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। उस दुर्दशा में शासन सत्य नहीं, शक्ति पर आधारित होता है। वैषम्य के परिणामस्वरूप सर्वत्र द्वेष–ईर्ष्या, वैर–शत्रुता, भय–आतंक, हिंसा–हत्या, लूट–पाट, आन्दोलन–हड़ताल, उपद्रव–उत्क्रान्ति के रूप में दुःख और अशान्ति ही प्राप्त होती है। अतः विषमता पर आधारित विषविधान का परित्याग करके जो राष्ट्र समता पर आधारित संविधान को स्वीकार कर लेता है, वह राष्ट्र समस्त प्रकार के उपद्रवों से मुक्त होकर परम्वैभव को प्राप्त हो जाता है, पूर्ण सुखशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

32. राज्य अथवा धर्म

राज्य अन्याय की उपज है, धर्म न्याय की उपज है। दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इसे जनता स्वतः समझे। जो कुछ भी अन्याय के अनुकूल है, वही राज्य के रूप में दिखाई पड़ रहा है और जो कुछ भी न्याय के अनुकूल है, वही धर्म के रूप में जानना चाहिए। राज्य और धर्म दोनों विपरीत ध्रुव हैं। राज्य होगा, तो धर्म नहीं और धर्म होगा, तो राज्य नहीं। किसी को अपना दास बनाना ही राज्य करना कहलाता है। दूसरों को पराजित करके अपने अधीन करना ही राज्य है। यह राज्यवाद राक्षसों की देन है। जब रक्षा करना भक्षण करने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, तो राक्षस शब्द दुष्टता का प्रतीक बन गया। क्रूर, कठोर, कुहिंसक, दुष्ट, दुर्जन, दुराचारी, शोषक, उत्पीड़क के लिए राक्षस शब्द प्रयुक्त होने लगा। इतिहास के दुष्प्रवाह ने शब्दों के अर्थ बदल दिए। वास्तव में रक्षा करना ही राज्य करना कहलाता है। किन्तु जब जाति, वंश, कुल, गोत्र, रंग, लिंग आदि के आधार पर दुष्ट, पतित, अपराधी, धूर्त आदि भक्षक प्रवृत्ति के लोग रक्षक के पदों पर आरुढ़ होने लगे, तब मानवसमाज में वरीयता, अर्हता, पात्रता उपेक्षित हो गयी। शास्त्रों में राज्य की भर्त्सना की जाने लगी। महाभारत में लिखा गया :–

'न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम्।।'

अर्थात् पहले न कोई राज्य था, न कोई राजा था; न कोई दण्डविधान था, न कोई दण्ड देने वाला था; तब न्यायरुपी धर्म के द्वारा ही सम्पूर्ण जनता के पारस्परिक हित सुरक्षित थे।

33. कर अथवा टैक्स

'कर' का तात्पर्य है– सहयोग। हाथ को ही 'कर' कहा जाता है। कर से ही सब कर्म होते हैं। कर के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है। सार्वजनिक कर से ही सार्वजनिक कार्य किए जाने की प्रक्रिया का नाम ही सर्वकारिक व्यवस्था है। इस सर्वकारिक व्यवस्थातन्त्र को ही 'सर्वकार' कहते हैं। 'सर्वकार' शब्द का अपभ्रष्ट रूप ही 'सरकार' है। सार्वजनिक कार्यों को सम्पादित करने के उद्देश्य से सर्वकारिक संस्था को संचालित करने के लिए एक सर्वकारिक कोष की आवश्यकता होती है। इस सर्वकारिक कोष को निर्मित करने के लिए सार्वजनिक करसंग्रह की प्रक्रिया अपनाई जाती है। इसके लिए एक न्यायशील समुचित करप्रणाली भी आवश्यक होती है, जो सार्वजनिक जनजीवन में से प्रत्येक के समुचित सहयोग पर आधारित होती है, ताकि जनता में से प्रत्येक का हाथ उस कार्यभार को वहन करे। यह सहयोगी हाथ ही 'कर' कहलाता है। जबकि 'टैक्स' का तात्पर्य है– 'किराया'। इसीलिए किराए के वाहन को टैक्सी कहते हैं। सहयोग अथवा कर पारस्परिक सहजीविता, सममूल्यवत्ता और प्रतियोगिता का परिचायक है। इसके ठीक विपरीत टैक्स प्रतिद्वन्द्विता का परिचायक है। टैक्स तो मालिकों द्वारा गुलामों से वसूल किया जाने वाला धन है, जो गुलामों के लिए नहीं, बल्कि मालिकों के लिए खर्च

किया जाने वाला धन होता है। जबकि जनता के बीच पारस्परिक सहयोग के द्वारा संग्रह किया गया 'कर' जिस सार्वजनिक कोष का निर्माण करता है, वह जनता के द्वारा, जनता की ओर से, जनता के लिए होता है। अतः इस जनकोष का परिव्यय सार्वजनिक हितों पर समुचित रूप से किया जाता है। उसमें मालिक और गुलाम की पारस्परिक खींचतान नहीं होती। ऐसे सार्वजनिक जीवन में लोकतन्त्र प्रतिष्ठित होता है। राजा और प्रजा की प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो जाती है। इसप्रकार करप्रणाली और टैक्सप्रणाली में भेद स्पष्ट जानना चाहिए।

34. जितना कार्य उतना कर और जितना कर उतना कार्य

सरकार के पास निम्नलिखित चार ही सार्वजनिक कार्य होते हैं :–

1. जनता को शिक्षा–प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य।
2. जनता को आजीविका–रोजगार प्रदान करने का कार्य।
3. जनता को सुख–सुविधा प्रदान करने का कार्य।
4. जनता को संरक्षण–सहयोग प्रदान करने का कार्य।

उपरोक्त चारों सार्वजनिक सेवाकार्यों को सम्पादित करने हेतु धन की आवश्यकता होती है। अतः इन चारों सेवाकार्यों पर जितना परिव्यय अनुमानित हो, सरकार द्वारा उतना ही कराधान किया जाना चाहिए और इस कराधान से जितना धन राष्ट्रकोष में संग्रहित हो, वह पूर्णतः इन्हीं चारों सेवाकार्यों पर समुचित रूप से प्रतिवर्ष परिव्ययित किया जाना चाहिए। यही न्यायशीलता है, यही नैतिकता है।

35. न्याय ही धर्म है

आरम्भो न्याययुक्तो यः स धर्मः इति स्मृतः।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम्।।

जो कार्य न्याययुक्त होता है, वही धर्म माना गया है। अनाचार या अन्याय का नाम ही अधर्म है– यह शिष्टजनों का उपदेश है। ***-(महाभारत)***

मानवसमाज में न्याय को ही धर्म कहते हैं। न्यायशील नियम–नीति एवं विधि–विधान को ही संविधान कहते हैं। न्यायशील नीतियों के आधार पर ही समाज का नेतृत्व होता है। न्यायशील नियमों एवं नीतियों का आचरण ही समाज में सदाचार कहलाता है। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण न्याय के आधार पर ही होता है। समुचित अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण ही न्याय है। समाज में शिष्ट और धार्मिक वही है, जो न्यायशील आचार–व्यवहार अपनाता है। अन्यायी व्यक्ति को ही अशिष्ट, अधार्मिक, भ्रष्ट और असभ्य कहते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य को समुचित शिक्षा, समुचित आजीविका, समुचित सुखसुविधा एवं समुचित संरक्षण की प्राप्ति न्यायशीलता के द्वारा ही सम्भव है।

36. न्याय ही बुद्धिमानों का आदर्श है

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

नीति–निपुण विद्वान निंदा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा वापस चली जाए, आज ही मृत्यु हो अथवा युगों पश्चात्, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति न्याय के पथ से विचलित नहीं होते। ***-(भर्तृहरि नीतिशतक,84)***

पूर्ण बुद्धिमान वही है, जिसे सत्य का बोध हो। एक ही तत्त्व से सबके निर्मित होने का जिसे ज्ञान हो। एक ही आत्मा सबमें स्थित होने का जिसे अनुभव है। इस सत्य के द्वारा जिसके नेत्रों में समदर्शिता है। जिसके नयनों में न्यायशीलता है। वस्तुतः जिसे नय–अनय का बोध है, वही बुद्धिमान है। ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी न्यायधर्म के पथ से विचलित नहीं होगा। जिस किसी भी समाज या राष्ट्र में यह न्यायशील समरसता न हो तथा जनजीवन में पारस्परिक न्यायशील संतुलन न हो, वहाँ किसे बुद्धिमान कहा जाए? वहाँ तो केवल जंगलराज, वनविधान, विषंविधान और पशुत्व का ही वातावरण होता

*है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अथवा मात्स्यन्याय की कहावत चरितार्थ होती है, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। समाज की ऐसी ही दुर्दशा पर किसी ने कहा है–**'जंगलराज समाज में, छिड़ी मर्शिया राग। कुछ भेड़ें कुछ भेड़िए, कुछ हैं विषधर नाग।।'***

37. न्यायाधिकार

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवाः।
न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासस्तत्र न कारयेत्।।

*जिस देश में निम्नलिखित चार बातें नहीं प्राप्त हों उस देश में नहीं बसना चाहिए :– 1. विद्या, 2. आजीविका, 3. सुखसम्बन्ध, 4. सम्मानसंरक्षण। **-(चाणक्यनीति,1:8)***

मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना जाता है। सामाजिक सहजीविता को ही मानवसभ्यता कहते हैं। पारस्परिक सामंजस्य, संतुलन, समन्वय एवं सहयोग को ही सभ्यता कहते हैं। यह मानवसभ्यता एक सार्वजनिक संस्था पर आधारित होती है, जिसे सर्वकार अथवा सरकार कहते हैं, जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक सदस्य को उसकी योग्यता–क्षमता एवं गुण–कौशल के अनुरूप जीवन की सभी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति की जाती है। जिस देश अथवा राष्ट्र में उसके निवासियों के जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण सर्वसुलभ नहीं होता, उस देश अथवा राष्ट्र में रहना व्यर्थ है। उस देश अथवा राष्ट्र की सरकार निश्चय ही अन्यायी है और प्रजा को सन्तान की भाँति न रखकर दास अथवा गुलाम की भाँति रखती है। जबकि भाषाविज्ञान के अनुसार सन्तान को ही प्रजा कहते हैं। गुलाम या दास को प्रजा नहीं कहा जा सकता।

38. सम्पदा पर न्यायशील स्वामित्व

यावद् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं यो अभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति।।

*जितनी धनसम्पदा से सर्वसामान्य जीवननिर्वाह संभव होता है, उतनी ही धनसम्पदा पर व्यक्ति का स्वत्वाधिकार सिद्ध होता है। किन्तु उससे अधिक धनसम्पदा पर जो व्यक्ति अपना स्वत्वाधिकार मानता है, वह चोर है और दण्ड का पात्र है। **-(भागवत्पुराण)***

*मानवसमाज में चार प्रकार की सामाजिक सम्पदा होती है– कृषिकसम्पदा, वाणिज्यिकसम्पदा, प्रशासनिकसम्पदा, दैविकसम्पदा। प्राचीन वैदिकभाषा में इन सम्पदाओं को ही क्रमशः शौद्रसम्पदा, विट्सम्पदा, क्षत्रसम्पदा, ब्रह्मसम्पदा कहा जाता था। इन चारों सम्पदाओं का न्यायशील समुचित स्वत्वाधिकार जनता के मध्य वितरित होना चाहिए। वरीयताक्रम के अनुसार इन चारों सम्पदाओं का वितरण करके ही समाजव्यवस्था को न्यायशील एवं सुखद बनाया जा सकता है। चारों सम्पदाओं का केन्द्रीकरण ही समस्त उपद्रवों की जड़ है। अतः सम्पदाओं के केन्द्रीकरण को दण्डनीय अपराध अवश्य ही माना जा सकता है। अन्यथा किसी कवि का यह कथन चरितार्थ होता रहेगा– **'कहाँ तो तय था उजाला हर एक घर के लिए। कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।।'***

39. वरीयतानुसार सम्पदा पर स्वामित्व का निर्धारण

''सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें सिखा गए हैं कि 'सकल भूमि गोपाल की'। इसमें कहीं मेरी और तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। गोपाल यानी भगवान। आधुनिक भाषा में गोपाल यानी राष्ट्र यानी जनता। जमीन और दूसरी सारी सम्पत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करे। दुःख इस बात का है कि किसान और मजदूर या तो इस सरल सत्य को जानते नहीं हैं या यों कहो कि उन्हें इसे जानने नहीं दिया गया है। मैं सदा से यह मानता आया हूँ कि नीचे से नीचे और कमजोर से कमजोर के प्रति हम जोर-जबरजस्ती से सामाजिक न्याय का पालन नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता आया हूँ कि पतित से पतित लोगों को भी मुनासिब तालीम (समुचित शिक्षा) दी जाय

तो अहिंसक साधनों द्वारा सबप्रकार के अत्याचारों का प्रतिकार किया जा सकता है।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

*जैसा गुण वैसा कर्म निर्धारित होता है। शास्त्रवचन है– **'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।'** गुणवत्ता, योग्यता, क्षमता, कौशल का परीक्षण करके ही कर्माधिकार निर्धारित होता है। इसे ही वरीयतानुसार कर्मों का विभाजन कहते हैं। इस वरीयता, अर्हता, पात्रता के अनुसार कर्मविभाजन के परिणामस्वरूप तत्सम्बन्धी सम्पत्ति का विभाजन भी स्वतः हो जाता है, क्योंकि कृषिकर्म के साथ कृषिकसम्पदा संयुक्त होती है, वाणिज्यकर्म के साथ वाणिज्यिकसम्पदा संयुक्त होती है, प्रशासनकर्म के साथ प्रशासनिकसम्पदा संयुक्त होती है, नेतृत्वकर्म के साथ नैतिक अथवा दैविक सम्पदा संयुक्त होती है। इसप्रकार कृषिकसम्पदा, वाणिज्यिकसम्पदा, प्रशासनिकसम्पदा, नैतिकसम्पदा आदि चारों सम्पदाओं का विभाजन भी वरीयताक्रम के अनुसार सिद्ध हो जाता है। कृषक, वणिक, प्रशासक, नायक आदि चारों प्रकार के कर्मचारी इन चारों प्रकार की सम्पदाओं के स्वामी अपने कर्मानुसार स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। ये चारों सम्पदाएँ निजी घरेलू उपयोग की सम्पदा से अतिरिक्त मानी जाती है। इन सर्वित सम्पदाओं को वरीयता, अर्हता, पात्रता के क्रम से चारों प्रकार के कर्मचारियों को उनकी आजीविका के साधन के रूप में अथवा सार्वजनिक उपयोगिता की दृष्टि से उपलब्ध कराया जाता है। आजीविका या रोजगार का संसाधन इन्हीं सर्वित या सामाजिक सम्पदाओं के द्वारा सुनिश्चित होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन चारों सम्पदाओं पर उपरोक्तानुसार निर्धारित स्वत्वाधिकारी इन सम्पदाओं के नियोक्ता, उपयोक्ता, संरक्षक एवं स्वामी होते हैं।*

40. स्वराज्य, स्वतन्त्रता और न्यायशीलता

आइए देखें कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के मसीहा स्वर्गीय महात्मा गाँधी इस स्वराज्य, स्वतन्त्रता और न्यायशीलता के बारे में क्या कहते हैं :–

''स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्मशासन या आत्मसंयम है। स्वराज्य से मेरा अभिप्राय लोकसम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन है।

सच्चा स्वराज्य थोड़े से लोगों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो, तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है।

वह स्वराज्य सबके लिए है, सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं किन्तु लूले, लँगड़े, अन्धे और भूख से मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी आते हैं । मेरे लिए स्वराज्य का अर्थ सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही गरीबों को भी सुलभ होनी चाहिए इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। मुझे इस बात में बिल्कुल संदेह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा जब तक वह गरीबों को ये सारी सुविधाएँ देने की व्यवस्था नहीं कर देता। अगर स्वराज्य का अर्थ हमें सभ्य बनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो तो वह किसी कीमत का नहीं होगा। हमारी सभ्यता का मूलतत्त्व ही यह है कि हम अपने सब कामों में चाहे वे निजी हों या सार्वजनिक, नीति (न्यायशीलता) के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं।

स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता। सारी जनता की भलाई का सामान्य उद्देश्य सिद्ध करने में हर एक अपना अभीष्ठ योग देता है। सब पढ़-लिख सकते हैं और उनका ज्ञान दिन-दिन बढ़ता रहता है। बीमारी और रोग कम से कम हो जाएँ ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता और चाहने वालों को काम अवश्य मिल जाता है। उसमें ऐसा नहीं हो सकता, होना नहीं चाहिए कि चन्द अमीर तो रत्नजड़ित महलों में रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोपड़ियों में जिनमें हवा और प्रकाश का प्रवेश न हो। अहिंसक स्वराज्य में न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता। और इसी तरह किसी को कोई अन्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। सुसंगठित राज्य में किसी के न्यायशील अधिकार का किसी दूसरे के द्वारा छीना जाना असंभव होना चाहिए।

बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती है, वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए। ऐसा समाज जरूर ही बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाला होगा।''

-(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

गाँधी के सपनों का स्वराज्य कितना सुन्दर है, जो सम्पूर्ण राष्ट्र ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के कल्याण को चरितार्थ करता है। गाँधी के इन सुन्दर विचारों के कारण ही गाँधी की लोकप्रियता इतनी अधिक है। इस लोकप्रियता की आड़ में ही लगातार कई दशकों तक दुष्ट राजनेताओं ने जनता का शोषण किया। स्वराज्य को सर्वात्मिक नहीं होने दिया। भारत में 70 करोड़ अशिक्षित और 50 करोड़ भुखमरी से ग्रस्त, 20 करोड़ बेरोजगारी से त्रस्त तथा करोड़ों सुखसुविधाओं से वंचित लोग भीषण दुःखद जीवन जीने के लिए बाध्य हैं। यह कैसा स्वराज्य है? यह कैसी स्वतन्त्रता है? यह कैसा न्याय है? अतः अन्यायशील कुराज्य सर्वथा परित्याज्य है।

41. शक्ति अथवा सत्य

''भारत के सामने आज दो रास्ते हैं : वह चाहे तो पश्चिम के 'शक्ति ही अधिकार है' वाले सिद्धान्त को अपनाए और चलाए या पूर्व के इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और उसी की विजय के लिए अपनी सारी ताकत लगाए कि 'सत्य की ही जीत होती है'; सत्य में हार कभी है ही नहीं; और ताकतवर तथा कमजोर, दोनों को न्याय पाने का समान अधिकार है।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

दो ही सिद्धान्त हैं– 'सत्–सिद्धान्त' और 'दुत्–सिद्धान्त'। दो ही पथ हैं– 'सत्पथ' और 'दुष्पथ'। दो ही आचार हैं– 'सदाचार' और 'दुराचार'। दो ही व्यवहार हैं– 'सद्व्यवहार' और 'दुर्व्यवहार'। दो ही जीव हैं– 'सज्जन' और 'दुर्जन'। इन दोनों में से एक 'सत्य' का आराधक है, दूसरा 'शक्ति' का। जो 'सत्य' का आकांक्षी है, वह प्रेम, न्याय और पुण्य का पक्षधर होता है; क्योंकि 'सत्य' अद्वैत है, जो पारस्परिक अन्तर्सम्बद्धता का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके विपरीत जो 'शक्ति' का आकांक्षी है, वह घृणा, अन्याय और पाप का पक्षधर होता है, क्योंकि 'शक्ति' संघर्ष है, द्वन्द्व है, जो पारस्परिक द्वन्द्वात्मकता का दूषित सिद्धान्त है अथवा अन्धी मान्यता है, अन्धविश्वास है।

इन दोनों सिद्धान्तों में से एक जीवनविकास की ओर ले जाता है, दूसरा जीवनविनाश की ओर। चुनाव अपने हाथ है। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता विनाशकारी है, परित्याज्य है। अतः शक्ति के आधार पर अधिकारों की छीन–झपट नहीं बल्कि सत्य के आधार पर समुचित अधिकारों का निर्धारण होना चाहिए। सत्य पर आधारित नीति–नियम ही न्याय की धुरी हैं।

42. न्याय का साम्राज्य ही रामराज्य है!

''वर्गयुद्ध भारत के मूलस्वभाव के खिलाफ है। भारत में समान न्याय और सबके बुनियादी हकों के विशाल आधार पर स्थापित एक उदार किस्म का साम्यवाद निर्माण करने की क्षमता है। मेरे सपने के रामराज्य में सबके अधिकार सुरक्षित होंगे।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

*प्राचीन भारत में सत्–सिद्धान्त का आविष्कार हुआ था। तदनुसार सत्धर्म की प्रतिष्ठा हुई थी। जिससे सत्युग का वातावरण उत्पन्न हुआ था। पुनः उसी 'सत्–सिद्धान्त' के आधार पर सम्पूर्ण राष्ट्र को सत्य, प्रेम, न्याय, पुण्य रूपी सत्धर्म में प्रतिष्ठित किया जा सकता है, जिससे सम्पूर्ण विश्व को सुखशान्ति सुलभ हो सकती है। **'नान्यः पन्थः विद्यते अयनाय।'** इस सत्पथ के अतिरिक्त दूसरा कोई लोककल्याण का पथ नहीं है। रामचरितमानस की चौपाई– **'राम प्रताप विषमता खोई'** के आधार पर पुनः रामराज्यरूपी न्यायधर्म प्रतिष्ठित किया जा सकता है। भारत में तत्काल इसकी संभावना है। यह न्याय का साम्राज्य ही वास्तविक रामराज्य है। राम के वंशजों या रघुवंशियों का साम्राज्य कभी रामराज्य नहीं हो सकता, क्योंकि उच्च वंशावली में भी रावण, कंस, दुर्योधन जैसे दुष्ट उत्पन्न होते हुए देखे गए हैं। अतः जाति, वंश, कुल, गोत्र पर आधारित द्वन्द्वात्मक अन्यायी राजनीति सर्वथा परित्याज्य है।*

43. विनाश से बचने के लिए अन्याय को दूर करो!

''अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

राष्ट्रीय जीवन के दो ही पथ हैं– न्यायपथ और अन्यायपथ। जो न्यायपथ पर चलते हैं, निश्चय ही वे प्रगति, उन्नति, समृद्धि, विकास, सुख और शान्ति को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो अन्यायपथ पर चलते हैं, वे निश्चय ही दुर्गति, पतन, विपत्ति, विनाश, दुःख और अशान्ति को प्राप्त होते हैं। अतः अन्यायपथ सर्वथा परित्याज्य है।

44. न्याय की स्थापना के लिए जंग नहीं जागरुकता चाहिए

समाज में फैले हुए अन्याय को मिटाने के लिए कई लोग अन्याय का विरोध करने अथवा अन्याय के खिलाफ जेहाद छेड़ने अथवा अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने का परामर्श देते हैं अथवा स्वयं भी वैसा ही करने को तत्पर हो जाते हैं। किन्तु आजीवन संघर्ष करने के पश्चात् भी ऐसे व्यक्तियों के हाथ में कोई सफलता नहीं मिलती। क्योंकि अन्धकार को दूर करने के लिए अन्धकार का विरोध नहीं बल्कि प्रकाश की व्यवस्था करनी पड़ती है। अज्ञान को मिटाने के लिए ज्ञान की प्राप्ति करनी पड़ती है। ज्ञानार्जन के बिना अज्ञान के मिटने की कोई संभावना नहीं है। ज्यों ही आप ज्ञान का प्रकाश जलाते हैं, त्यों ही अज्ञान का अन्धकार मिट जाता है। यही सकारात्मक दृष्टिकोण है, यही सकारात्मक प्रयत्न है, जो अवश्य ही सफल होता है।

कुछ लोग जो अपनी बुद्धि और विवेक को ताक पर रखकर अन्याय उन्मूलन, भ्रष्टाचार उन्मूलन, आतंकवाद उन्मूलन, जेहाद उन्मूलन, दहेज उन्मूलन, डकैती उन्मूलन, चोरी उन्मूलन, जमींदारीप्रथा उन्मूलन, गरीबी उन्मूलन, अशिक्षा उन्मूलन, बेरोजगारी उन्मूलन, असुविधा उन्मूलन, असुरक्षा उन्मूलन आदि कार्यों में संलग्न हो जाते हैं, वे कोल्हू के बैल की भाँति आजीवन गोल–गोल घूमते रहते हैं और यात्रा के नाम पर जहाँ के तहाँ खड़े रहते हैं। सफलता का आँकड़ा शून्य बनकर रह जाता है। जैसे– काँग्रेस का गरीबी हटाओ आन्दोलन, भाजपा का भय–भूख–भ्रष्टाचार मिटाओ आन्दोलन, बसपा का शोषण उन्मूलन, वामपंथियों का विषमता उन्मूलन कार्यक्रम आदि। वास्तव में ये सब राजनैतिक षड़यन्त्रमात्र होते हैं– जनता को दिग्भ्रमित करके राजगद्दी हथियाने के लिए।

आवश्यकता इस बात की है कि सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाए। नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर किसी शुभफल की आशा नहीं की जा सकती। कहावत प्रसिद्ध है– ***'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'*** *अथवा* ***'जैसा चिन्तन वैसा जीवन'****। वास्तव में न्यायशील विधि–विधान और न्यायशील नीति–नियम ही न्यायशील व्यवस्था को जन्म देते हैं और एक न्यायशील व्यवस्था में कोई भी नकारात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं, जिनका उन्मूलन करना पड़े। यह न्यायशील विधि–विधान और नीति–नियम का निर्माण जंग के द्वारा नहीं बल्कि जागरुकता के द्वारा ही संभव है। लोकजीवन में लोकमत जाग्रत होते ही न्यायशील संविधान का निर्माण होता है, जिससे न्यायशील व्यवस्था बनती है, न्यायशील सरकार का गठन होता है और न्यायशील जनाधिकारों की प्रतिष्ठा होती है। अतः जंग नहीं, जागरुकता चाहिए। जोर नहीं, जनमत चाहिए। युद्ध नहीं, युक्ति चाहिए। बन्दूक नहीं, बुद्धि चाहिए। हथियार नहीं, हाथ चाहिए। तलवार नहीं, तर्क चाहिए। एक कहावत बड़ी प्रसिद्ध है–* ***'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'।*** *अर्थात् जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है। जिसके पास सत्य है, उसके पास शक्ति है। अन्धकार में अपना कोई बल नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। प्रकाश उत्पन्न करो, अन्धकार स्वतः चला जाएगा। न्याय जगाओ, अन्याय भाग जाएगा। शिष्टाचार बढ़ाओ, भ्रष्टाचार स्वतः मिट जाएगा। संविधान प्रतिष्ठित करो, विषंविधान स्वतः विदा हो जाएगा। शिक्षा दो, अशिक्षा दूर हो जाएगी। रोजगार दो, बेरोजगारी दूर हो जाएगी। ये शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण की सुविधाएँ अनपढ़ों, बेरोजगारों, असुविधाग्रस्तों और असुरक्षितों के लिए अलग से पैदा करने अथवा कहीं आकाश से टपकाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि इन चारों तत्त्वों की सुलभ मात्रा को ही जनता के बीच परस्पर न्यायशील समुचित बँटवारा करके समस्त अभावों को दूर किया जा सकता है। ये सभी वस्तुएँ सदैव पर्याप्त मात्रा में इस संसार में सुलभ रहती हैं। अलग से इनके विकास और आविर्भाव की आवश्यकता नहीं पड़ती।*

45. भारतीय संविधान सभा की संकल्पना के सार अंश

''संविधान सभा भारत को स्वतंत्र प्रभुत्वसंपन्न गणराज्य के रूप में घोषित करने के अपने दृढ़ और सत्यनिष्ठ संकल्प की और भारत के भावी शासन के लिए संविधान बनाने की घोषणा करती है :-

- ***प्रभुत्वसंपन्न स्वतंत्र भारत की सभी शक्तियाँ और प्राधिकार, उसके संघटक भाग और शासन के सभी अंग लोक से व्युत्पन्न हैं।***
- ***भारत की जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; प्रतिष्ठा और अवसर की तथा विधि के समक्ष समता; विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय, संगम और कार्य की स्वतन्त्रता विधि और सदाचार के अधीन रहते हुए होगी।***
- ***अल्पसंख्यकों के लिए, पिछड़े और जनजाति क्षेत्रों के लिए और दलित और अन्य पिछड़े हुए वर्गों के लिए पर्याप्त रक्षोपाय किए जाएँगे।***
- ***गणराज्य के राज्यक्षेत्र की अखंडता और भूमि, समुद्र तथा आकाश पर उसके प्रभुत्वसंपन्न अधिकार, न्याय और सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार बनाए रखे जाएँगे।''***

-(भारत का संविधान : एक परिचय, न्यायाधीश आचार्य डा. दुर्गादास बसु)

सत्यनिष्ठा के आधार पर निर्मित संविधान ही कल्याणकारी हो सकता है क्योंकि 'सत्' ही विधेय है। सत्य ही विधाननिर्माण का मूल आधार है। सत्य के द्वारा ही न्यायशील नीति–नियम एवं विधि–विधान का निर्माण अथवा निर्धारण किया जा सकता है। सत्‌निर्णय ही न्याय है। सत्य ही सामाजिक न्याय का प्रतिष्ठापक है। सत्य से ही न्यायधर्म का उदय होता है। चतुष्पात् आत्मा को ही सत्य कहते हैं। एक ही आत्मा सबमें समानरूप से व्याप्त है। जिससे क्रिया, विचार, भाव और चेतना की अभिव्यक्ति होती है। यही चार क्षमताओं से युक्त आत्मा सब प्राणियों की धुरी है। अतः सबके साथ समान और उचित व्यवहार ही विधेय है। समाज में सभी के साथ आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय एवं आध्यात्मिक न्याय की प्रतिष्ठा ही संविधान का लक्ष्य है। जनता के चारों मौलिक अधिकारों जैसे– शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा एवं संरक्षण की समुचित सुलभता ही संविधान का उत्तरदायित्व है। अतः द्वन्द्वात्मक अन्याय को जन्म देने वाला विषंविधान सर्वथा परित्याज्य है।

46. भारतीय संविधान के ध्येय और उद्देश्य

''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को 'सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता (पारस्परिक प्रेम) बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्पित होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26-11-1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एतद्‌द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'' -(भारतीय संविधान की उद्देशिका)

विश्वमानवसमाज में प्रचलित अन्याय–व्यवस्था अथवा विषंविधान के कारण ही सर्वत्र दुःख, अशान्ति, संघर्ष, उपद्रव, आतंक, लूट, दरिद्रता, भुखमरी, अथवा अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा एवं असुरक्षा आदि का दूषित वातावरण उत्पन्न होता है। देश–देश के बीच, राज्य–राज्य के बीच, जाति–जाति के बीच संघर्ष प्रकट होता है। जनाधिकारों का हनन, नागरिकों के समुचित हितों की उपेक्षा के परिणामस्वरूप जनता में रोष और असन्तोष बढ़ता चला जाता है, जो आगे चलकर जनक्रान्तियों, विध्वंशों और आतंकवादों का रूप ले लेता है। मानवीय हितों अथवा मानवाधिकारों के हनन से सम्पूर्ण सृष्टि के विनाश का खतरा उत्पन्न हो जाता है। न्यायशील मानवाधिकारों जैसे– शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण की सर्वसुलभता के बिना जनता के बीच परस्पर बन्धुत्व अथवा भ्रातृत्व की कल्पना करना मूढ़तामात्र है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा, प्रत्येक परिवार को रोजगार, प्रत्येक क्षेत्र को सुखसुविधा

और प्रत्येक संवर्ग को संरक्षण प्रदान किए बिना किसी भी राष्ट्र अथवा विश्व में सुख–शान्ति अथवा एकता–अखण्डता की कल्पना नहीं की जा सकती। जो संविधान राष्ट्र में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध यात्मिक न्याय करने में असमर्थ हो, उसे संविधान की संज्ञा नहीं दी जा सकती वरन् वह विषंविधान ही कहा जा सकता है। जनता के समुचित हितों के संरक्षण के बिना संविधान अपने नामकरण को चरितार्थ नहीं कर सकता। अतः न्यायशील संविधान ही वरेण्य है, अन्यायी विषंविधान परित्याज्य है।

47. लोकतन्त्र और राजतन्त्र

''यदि राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार सामाजिक लोकतन्त्र नहीं है, तो वह नष्ट हो जाएगा। सामाजिक लोकतन्त्र का क्या अर्थ है, इसका अर्थ है वह जीवनपद्धति जो स्वतन्त्रता, समानता और बंधुता को मान्यता देती है। जिसमें ये तीनों अलग-अलग न माने जाकर त्रिमूर्ति के रूप में माने जाते हैं। वे इस त्रिमूर्ति का एकीकरण हैं। इस अर्थ में यदि एक को हम दूसरे से अलग कर दें तो लोकतन्त्र का आशय निष्फल हो जाएगा। स्वतन्त्रता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वतन्त्रता से पृथक नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार स्वतन्त्रता और समानता को बंधुत्व से विलग नहीं किया जा सकता।'' -(डा. भीमराव अम्बेडकर; संविधान सभा के समापन भाषण में)

राजनैतिक लोकतन्त्र अभिशाप है। सामाजिक लोकतन्त्र वरदान है। जनता पर किसी दल का, किसी वंश का अथवा किसी व्यक्ति का राज्य कभी लोकतन्त्र नहीं हो सकता। लोकतन्त्र तो सार्वजनिक ही हो सकता है। समस्त कार्यों के लिए सार्वजनिक जनता में से सुयोग्य, सक्षम, सद्गुणी एवं सकुशल व्यक्तियों का चयन ही लोकतन्त्र है। सार्वजनिक जीवन के चार कर्म हैं– कृषि, वाणिज्य, प्रशासन एवं नेतृत्व। इन चारों कर्मों के सफल सम्पादन हेतु सुपात्र व्यक्तियों का नियोजन ही लोकतन्त्र की पहिचान है। लोकतन्त्र को दलतन्त्र, वंशतन्त्र एवं व्यक्तितन्त्र से बचाने के लिए इसी न्यायशील व्यवस्था को ही वर्ण–व्यवस्था के नाम से घोषित किया गया था, जिसे धूर्तों ने जातिव्यवस्था में बदलकर वंशतन्त्र को स्थापित किया। अन्यथा शारीरिक क्षमतावान व्यक्ति कृषिकर्म हेतु प्रशस्त हैं। मानसिक क्षमतावान व्यक्ति वाणिज्यिककर्म हेतु प्रशस्त हैं। भावनात्मक क्षमतावान व्यक्ति प्रशासनिक सेवा हेतु प्रशस्त हैं। आत्मिक क्षमतावान व्यक्ति नेतृत्वकर्म हेतु प्रशस्त हैं। संक्षेप में यही वर्ण–व्यवस्था है, जो कि सर्वथा न्यायशील है। इस वर्णव्यवस्था का जातिव्यवस्था से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है। ये चारों क्षमताएँ प्रत्येक मनुष्य में उचित प्रयत्न एवं परिश्रम द्वारा क्रमशः विकसित होती हैं। क्योंकि सभी प्राणियों में तन, मन, प्राण और आत्मा– ये चारों केन्द्र विद्यमान हैं, जिनके विकास से क्रिया, विचार, भाव और चेतना का उदय होता है। इसी न्यायशील व्यवस्था के द्वारा जनता के बीच स्वतन्त्रता, समता एवं बन्धुता के त्रिवर्ग की रक्षा की जा सकती है। अतः गणतन्त्र के स्थान पर गुणतन्त्र प्रतिष्ठित किया जाना अनिवार्य है अथवा राजनैतिक गणतन्त्र के स्थान पर गुणात्मक गणतन्त्र ही वास्तविक लोकतन्त्र के रूप में वरेण्य है। लोकमत द्वारा गुणवान, सुयोग्य, सक्षम एवं सकुशल व्यक्तियों का चयन ही वास्तविक लोकतन्त्र है। अतः द्वन्दात्मक अन्यायी विषंविधान सर्वथा परित्याज्य है।

48. न्यायनीति और राजनीति

*नीति दो प्रकार की होती है– कुनीति और सुनीति। इन दोनों नीतियों में कौन सी कल्याणकारी है, यह सभी को भलीभाँति ज्ञात है। कुनीति से दुःख और अशान्ति उत्पन्न होती है। सुनीति से सुख और शान्ति उत्पन्न होती है। धूर्त राजनीतिज्ञ और पाखण्डी साधु–महात्मा लोग विश्वशान्ति अभियान चलाते हैं, शान्ति पर लम्बे–चौड़े भाषण देते हैं किन्तु वे कुनीति को हटाने के लिए सुनीति की स्थापना करने में कोई रुचि नहीं दिखाते। कुनीति को ही राजनीति कहते हैं और सुनीति को ही न्यायनीति कहते हैं। कुनीति पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित होती है, जबकि सुनीति पारस्परिक प्रतियोगिता पर आधारित होती है। कुनीति कहती है–**'फूट डालो और राज करो'**। सुनीति कहती है–**'मिलाओ और न्याय करो'**। अतः सुनीति से ही राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुरक्षित हो सकती है। बल्कि अन्य सभी राष्ट्रों के परस्पर मेल–मिलाप का मार्ग ही सुनीति के द्वारा ही प्रशस्त होता है। सुनीति ही **'विश्व–बन्धुत्व'** और **'वसुधैव–कुटुम्बकम्'** को चरितार्थ कर सकती है। अतः धूर्तों द्वारा प्रतिष्ठित राजनीति को हटाने के लिए न्यायनीति की प्रतिष्ठा आवश्यक है।*

49. धर्म और अधर्म

न्याय ही धर्म है, अन्याय ही अधर्म है। जीवनव्यवस्था जब न्याय पर आधारित होती है, तो उसे समाज की संज्ञा प्राप्त होती है। किन्तु जीवनव्यवस्था जब अन्याय पर आधारित होती है, तब उसे जंगल की संज्ञा प्राप्त होती है। मानवसमाज का धर्म तो न्याय ही है। मानवता और सामाजिकता की आधारशिला न्यायधर्म पर टिकी है। समाज में जो कुछ भी न्यायकारी व्यवस्था सिद्ध हो, उसे ही धर्म कहते हैं। किन्तु जो व्यवस्था अन्यायकारी सिद्ध हो, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। अन्यायकारी व्यवस्था तो अधर्म ही है। राजनीति भी यदि न्यायकारी सिद्ध हो जाए, तो वह भी धर्म के रुप में पूज्य हो जाएगी। यदि कोई व्यक्ति दूसरों को अपने समान जानकर उनके लिए अपने समतुल्य अधिकारों को प्रतिष्ठित करने की नीति अपनाए, तो ऐसी नीति चाहे उसका जो भी नाम दिया जाए, वह सर्वकल्याणकारी ही सिद्ध होगी, चाहे उसे लोकनीति, धर्मनीति, राजनीति, न्यायनीति आदि कोई भी संज्ञा प्रदान की जाए। जिस व्यवस्था से सार्वजनिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के समुचित हितों–अधिकारों, कर्तव्यों–उत्तरदायित्वों का संरक्षण हो, वही न्याय है, वही धर्म है, वही नीति है।

50. आर्थिक न्याय

''निदेशक तत्त्वों के अनुसार राज्य का उद्देश्य जिनके पास धन है उनसे छीनकर निर्धनता का उन्मूलन करना नहीं है बल्कि राष्ट्रीय धन और संपत्ति-स्रोतों में अनेक गुना वृद्धि करके उनका उन सभी लोगों में साम्यपूर्ण वितरण करना है जो उत्पादन में अपना अभिदाय करते हैं। जिस सीमा तक हम उस उद्देश्य की प्राप्ति करेंगे उस सीमा तक हमारे इस उपमहाद्वीप में आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित होगा। संक्षेप में आर्थिक न्याय का लक्ष्य आर्थिक लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य की स्थापना है।

आर्थिक न्याय का आदर्श प्रतिष्ठा की समानता लाना और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा और अवसर की असमानता को दूर करके जीवन को सार्थक और सर्वोत्तम जीने योग्य बनाना है।''
-(डा. दुर्गादासबसु, न्यायाधीश; भारत का संविधान : एक परिचय)

आर्थिक न्याय का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र या समाज के प्रत्येक सदस्य को अन्न, वस्त्र, आवास एवं अन्य वस्तुएँ समुचित मात्रा में सुलभ हों। आर्थिक न्याय लोगों को अमीरों से धन छीनकर गरीबों में बाँटने की बात नहीं करता। बल्कि सबके लिए आजीविका संसाधनों के समुचित वितरण का प्रतिपादन करता है। धन के बजाय संसाधन का संवितरण ही वास्तविक आर्थिक न्याय है। क्योंकि बिना परिश्रम के धनलाभ अन्याय है। परिश्रमपूर्वक उपार्जित धन ही न्यायोचित धन है। किन्तु परिश्रम के लिए संसाधनों की समुचित सुलभता अनिवार्य है। बिना संसाधन के परिश्रम नहीं किया जा सकता। जैसे– कृषिकर्म के लिए कृषिभूमि, वाणिज्यिककर्म के लिए वाणिज्यिक पूँजी, प्रशासनिककर्म के लिए सार्वजनिक सेवापद तथा नेतृत्वकर्म के लिए नेतृत्वपद अनिवार्य संसाधन हैं। जिनसे क्रमशः कृषि उत्पाद, वाणिज्यिक लाभ, सरकारी वेतन तथा नेतृत्व भत्ता इत्यादि के रुप में धनोपार्जन होता है। इस धनोपार्जन से ही अन्न, वस्त्र, आवास एवं अन्य वस्तुओं की पूर्ति संभव है। इस धनोपार्जन के रूप में प्राप्त होने वाली आर्थिक आय में न्यायशीलता बनाए रखना आवश्यक है अर्थात् प्रत्येक प्रकार के परिश्रम की समुचित मूल्यवत्ता का निर्धारण सरकार का सम्वैधानिक उत्तरदायित्व है।

51. मानवता

''सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से स्वतन्त्र और समान हैं। उन्हें बुद्धि और अंतश्चेतना प्रदान की गई है। उन्हें परस्पर भ्रातृत्व की भावना से कार्य करना चाहिए।''
-(संयुक्तराष्ट्रसंघ द्वारा अंगीकृत मानवाधिकार की घोषणा, 1948)

मनुष्य एक बुद्धिमान सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता के बिना मनुष्य के जीवन की परिकल्पना असंभव है। बुद्धि और विवेक पूर्वक देखने पर एक ही बात सत्य प्रतीत होती है कि सभी प्राणियों में वही तन, मन, प्राण और आत्मा विद्यमान हैं। उन्हीं पंचतत्त्वों से सबका अस्तित्व प्रकट है। सबमें वही हड्डी, माँस, मज्जा, रक्त आदि विद्यमान हैं। सबमें वही सुख, सुरक्षा, सम्मान एवं कल्याण की आकांक्षा

पायी जाती है। मूलतः और तत्त्वतः सभी समान हैं। अतः सबके अधिकार भी समान हैं– यही सत्य है, यही न्याय है, यही विधेय है, यही नियमेय है कि प्रत्येक व्यक्ति को 25 वर्ष की आयु तक समुचित शिक्षा प्राप्त हो। प्रत्येक परिवार को समुचित आजीविका (रोजगार) प्राप्त हो। प्रत्येक क्षेत्र को समुचित सुखसुविधा (सड़क, पानी, बिजली आदि) प्राप्त हो। प्रत्येक संवर्ग को समुचित संरक्षण (चिकित्सा, न्याय, रक्षा, नेतृत्व आदि) प्राप्त हो। यही न्यायशील मूलभूत अधिकार हैं। इन अधिकारों के समुचित संवितरण से ही परस्पर भ्रातृत्व की भावना का जन्म हो सकता है। विषम एवं अनुचित अधिकारों के द्वारा पारस्परिक द्वेष–ईर्ष्या, शत्रुता–संघर्ष का जन्म होता है। अतः विश्वमानवसमाज में अन्याय, अनीति सर्वथा परित्याज्य है।

52. न्यायविधान

''राज्य विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यष्टियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों (कार्यों) में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा।'' -(भारतीय संविधान, 44वाँ संशोधन 1978, अनुच्छेद 38)

सरकार का यह कर्तव्य है कि वह जनता के बीच आय की असमानताओं को कम करे। इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व के समस्त मनुष्यों के बीच पारस्परिक सामंजस्य की नीति अपनायी जानी चाहिए। शारीरिकश्रम, मानसिकश्रम, भावनात्मकश्रम एवं आत्मिकश्रम की सममूल्यवत्ता प्रतिष्ठित होनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक श्रम की अपनी गरिमा है, अपनी विशेषता है, अपना महत्त्व है। कृषि, वाणिज्य, प्रशासन एवं नेतृत्व सबका अपना विशिष्ट स्थान है। इनमें परस्पर आर्थिक सामंजस्य की स्थापना आवश्यक है। इसीप्रकार जाति, लिंग, रंग, क्षेत्र आदि आधारों पर किसी के साथ अन्याय का आचरण अपराध है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा, प्रत्येक परिवार को रोजगार, प्रत्येक क्षेत्र को सुखसुविधा एवं प्रत्येक संवर्ग को संरक्षण अनिवार्यरूप से प्राप्त हो, यही वास्तविक न्याय है। यही सम्वैधानिकता है। अतः मनुष्यों के बीच परस्पर अन्याय, अनीति, वैषम्य एवं अनुचित व्यवहार सर्वथा परित्याज्य है।

53. आर्थिक आय की असमानताओं को दूर करो!

सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली विषम आर्थिक नीतियों के कारण ही जनता के बीच आर्थिक आय में परस्पर असमानताओं का जन्म होता है। कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, नेतृत्व आदि चारों प्रकार के कार्यों में संलग्न व्यक्तियों की आर्थिक आय में समानता को बनाए रखने की न्यायशील नीति अपनाए बिना असमानताओं अथवा विषमताओं को दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक है कि आर्थिक संसाधनों का समुचित वितरण हो और आर्थिक आय के उपार्जन के समुचित अवसरों की सुलभता हो। इसके बिना आर्थिक वैषम्य को मिटाया नहीं जा सकता।

54. अन्यायी विधि-विधान पर गर्व कैसा?

''जो गरीब लोग इधर-उधर भटक रहे हैं, जिनके पास कोई काम (रोजगार) नहीं है, जिन्हें कोई मजदूरी नहीं मिलती और जो भूख से मर रहे हैं, जो निरन्तर कचोटने वाली गरीबी के शिकार हैं वे संविधान या उसकी विधि का गर्व नहीं कर सकते।'' -(डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, उपराष्ट्रपति का भाषण, भारत का संविधान : एक परिचय)

शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण आदि चारों मूलभूत अधिकारों की सुलभता के बिना अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा एवं असुरक्षा को दूर नहीं किया जा सकता। अशिक्षा, भूख, असुविधा एवं उत्पीड़न से बचने के लिए इन मूलभूत मानवाधिकारों की रक्षा अनिवार्य है। किसी भी राष्ट्र के संविधान का यही उत्तरदायित्व है। ऐसे ही संविधान पर गर्व किया जा सकता है। वर्तमान विश्व में ऐसा न्यायशील संविधान कहीं भी उपलब्ध नहीं है, यह बहुत ही खेद का विषय है। अतः अन्यायशील विषंविधान सर्वथा परित्याज्य है और न्यायशील संविधान सर्वथा स्वीकार्य है।

५५. संविधान में न्यायशीलता की झलक

''जब तक प्रत्येक सदस्य की गरिमा की रक्षा न की जाए तब तक बंधुता की स्थापना नहीं हो सकती। अतएव उद्देशिका में यह कहा गया है कि भारत में राज्य व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करेगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान प्रत्येक व्यक्ति को समान मूल अधिकार की प्रत्याभूति देता है जिससे कि यदि उसके अधिकारों का हनन होता है तो वह अपने न्यूनतम अधिकार न्यायालय द्वारा प्रवृत्त करा सकता है। यह ध्यान में रखते हुए कि यदि व्यक्ति को अभाव और दुःख से छुटकारा न मिले तो ये प्रवर्तनीय अधिकार उसकी गरिमा बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। संविधान के भाग-४ में बहुत से निदेश सम्मिलित किए गए हैं, जिनमें राज्य को दिशा निर्देश दिया गया है कि वह अपनी आर्थिक और सामाजिक नीतियों की इसप्रकार रचना करे कि 'पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समानरूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो' -अनुच्छेद ३९(क), 'काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाएँ हों' -अनुच्छेद ४२, और 'शिष्ट जीवनस्तर और अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त हों' -अनुच्छेद ४३; हमारे उच्चतम न्यायलय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि गरिमा का अधिकार मूल अधिकार है।'' -(न्यायाधीश आचार्य डा. दुर्गादास बसु, भारत का संविधान : एक परिचय)

समाज अथवा राष्ट्र में न्यायधर्म की स्थापना ही संविधान का एकमात्र कर्तव्य है। समाज में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक नीतियों एवं नियमों का निर्धारण न्यायशील हो तथा जनता को मूलभूत अधिकार सुलभ हों, जिससे मानवीय गरिमा प्रतिष्ठित हो, यही संविधान की पृष्ठभूमि है। ऐसा न्यायशील संविधान ही जनता को शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा एवं संरक्षण के मूलभूत अधिकार प्रदान कर सकता है। इन अधिकारों की उपेक्षा ही अन्याय है, जिससे राष्ट्र में अधिकांश जनता में अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा एवं असुरक्षा के कारण अभाव और दुःख स्पष्टरूप से दिखाई देता है। अभाव और दुःख की उपस्थिति यह संकेत करती है कि जनता को समुचित अधिकार प्राप्त नहीं हैं। कुछ धूर्त लोग बल अथवा छलपूर्वक अन्य जनों के हितों एवं अधिकारों का अपहरण अथवा अधिग्रहण कर लेते हैं। इसे सम्वैधानिक दोष की ही संज्ञा दी जा सकती है। न्यायालयों के द्वारा जनता के चारों प्रकार के न्यायशील अधिकार प्रतिष्ठित किए जाने चाहिए ताकि ***'विश्व-बन्धुत्व'*** *एवं* ***'वसुधैव-कुटुम्बकम्'*** *की भावना विकसित हो सके। अतः सामाजिक अन्याय सर्वथा परित्याज्य है।*

५६. न्याय की स्थापना द्वारा अन्यायी साम्राज्य का उन्मूलन

''न केवल भारत में बल्कि सारी दुनिया में असन्तुलन, अन्याय, अत्याचार का साम्राज्य फैला हुआ है। धर्म भारतीय जीवन का मेरुदण्ड है। परन्तु वर्तमान भारत में धर्म को केवल परलोक की चीज बनाकर संकुचित कर दिया है और जनजीवन को धर्मनिरपेक्ष, भ्रष्ट संसदीय राज्यतन्त्र के हाथ में सौंप दिया है। स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि जनजीवन पर छाई अधर्म की काली छाया को मिटाना आवश्यक हो गया है। धार्मिक पुरुष एकजुट होकर अधर्मरूपी राज्यतन्त्र की काली छाया को मिटाने हेतु धर्मयुद्ध भी करने के लिए मजबूर हो गए हैं।''

-(श्री केदारस्वामी, सन्तचेतना, धर्म एवं राजनीति : वैकल्पिक चिन्तन)

भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में जनजीवन अन्याय से त्रस्त है। न्यायधर्म के अभाव में अन्यायरूपी अधर्म का चहुँओर साम्राज्य छाया हुआ है। न्यायनीति के स्थान पर राजनीति ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा है। शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण के अधिकारों का समुचित वितरण विश्व में कहीं भी नहीं है। आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक तलों पर सर्वत्र अन्याय ही दिखाई देता है। न्याय ही राष्ट्रीय धर्म है। किन्तु राजनीति ने अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया है। अतः अन्यायी राजनीति सर्वथा परित्याज्य है।

57. भीड़तन्त्र से बचो!

वर्तमान लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभा, विधानपरिषद् आदि के नाम पर अयोग्य-अनर्ह व्यक्तियों की शताधिक भीड़ क्या सफलतापूर्वक राष्ट्र का नेतृत्व कर सकती है? सैंकड़ों शृगाल जहाँ पर हुआँ-हुआँ की भीषण ध्वनि कर रहे हों, परस्पर दुराक्रमण कर रहे हों। वहाँ पर किसी विधेयता की भला क्या संभावना हो सकती है? एक तो शृगाल अथवा भेड़िया स्तर के प्राणियों की भयंकर भीड़ और साथ में पक्ष-विपक्ष के द्वन्द्व में बँटी हुई सत्ता क्या कभी किसी सकारात्मक निश्चय तक पहुँच सकती है। यदि कोई व्यक्ति अवरीय, अनर्ह, अपात्र है, तो वह चाहे सांकुश हो अथवा निरंकुश हो, उससे नैतिकता की आशा नहीं की जा सकती। उसकी नीति में न्यायशीलता का प्रवेश ही नहीं हो सकता। उसके द्वारा रचे गए विधि-विधान में वैधानिकता का प्रवेश ही नहीं हो सकता। निषिद्ध आचार-व्यवहार करने वाले से विधेयता की आशा करना रेत से तेल निकलने की आशा करने के समान है। तिल से तेल निकल सकता है किन्तु रेत से केवल चिंगारी ही निकल सकती है। अतः तत्त्वज्ञ, स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मज्ञ, आत्मज्ञ, सर्वज्ञ अथवा समदर्शी, सर्वव्यापी, सर्वात्मक नेत्रवान व्यक्तियों को ही सार्वजनिक नेतृत्व का पद सौंपा जाना चाहिए। उन्हें ही सांसद, विधायक, पार्षद, सभासद आदि नैतिक पदों पर प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। ऐसे ज्ञाननेत्रवान व्यक्तियों की बहुसंख्य भीड़ नहीं चाहिए, बल्कि एक ही समदर्शी, सर्वात्मा व्यक्ति लोकनेतृत्व के लिए पर्याप्त है। साथ ही विचारविमर्श के लिए उसके चार सहयोगी और भी नियुक्त किये जा सकते हैं, क्योंकि चर्चा करने के लिए चार व्यक्तियों की उपस्थिति को अनादिकाल से सर्वमान्य और पर्याप्त कहा गया है। एक पुरानी कहावत है- ***'चर्चा करु तब चौहटे, ज्ञान करो तब दोय। ध्यान करो तब एकला, और न दूजा कोय॥'*** *इसप्रकार कुल पाँच व्यक्तियों की सभा को ही पूर्णसभा का दर्जा सदैव से प्राप्त है। इसे ही लोकनेतृत्व की पंचायत प्रणाली कहते हैं। यह गुणात्मक लोकपंचायत प्रणाली राष्ट्र के नेतृत्व में सदैव सकारात्मक परिणाम प्रस्तुत करने वाली सिद्ध होती है। समदर्शिता के बिना न्यायशीलता की आशा नहीं की जा सकती। अतः समदर्शी ब्रह्मज्ञजन ही अपने ज्ञाननेत्र से राष्ट्र का कुशल और सफल नेतृत्व करते हैं, जो स्वयं को सबमें और सबमें स्वयं को स्थित देखता है, वही समदर्शी कहलाता है। किन्तु जो द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण वाला है, वह निश्चय ही शृगाल और सिंह जैसी पशुतुल्य अवस्था को ही प्राप्त होता है। ऐसे द्वन्द्ववादियों की भीड़ कभी सार्वजनिक हितों की रक्षा नहीं कर सकती। केवल सर्वात्मा ही सर्वहित का संरक्षक सिद्ध होता है। अतः लोकनेतृत्व के लिए भीड़तन्त्र की आवश्यकता नहीं बल्कि गुणात्मक पंचतन्त्र की आवश्यकता है। जो लोक में से अथवा सार्वजनिक जनता में से वरीयता, अर्हता, पात्रता आदि के सर्वोच्च स्तर के आधार पर प्रतिष्ठित होता है और यह वरीयता का स्तर शैक्षणिक योग्यता, चारित्रिक गुणवत्ता, विकसित क्षमता एवं कार्य कौशल के समुचित परीक्षणों द्वारा सिद्ध होता है।*

58. न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था

''भावी संविधान ऐसा हो- जिससे नागरिकों का अभिक्रम प्रगटे तथा समाज की एकता और देश की अखण्डता सुरक्षित रहे। व्यक्ति के अन्तर में नैतिकता, राष्ट्र के लिए समर्पण की भावना जागृत हो। राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु में आत्मभाव हो, स्वार्थ का त्याग हो। सभी नर-नारी सर्वहित में रत रहें। देश में न कोई शोषक रहे और न कोई शोषित हो। वैकल्पिक व्यवस्था लाने के लिए देश की सभी राजनीतिक पार्टियाँ समाप्त की जाएँ। प्रत्येक ग्राम, मुहल्ला या क्षेत्र में अपनी आबादी के अनुपात से पार्टीविहीन पंचायतों की स्थापना करें। हर पंचायत अपने ही क्षेत्र के पाँच चरित्रवान व्यक्तियों का यथासंभव सर्व सम्मति से चयन करें।'' -(स्वामी हीरानन्द, सन्तचेतना, धर्म एवं राजनीति : वैकल्पिक चिन्तन)

संविधान ही धर्मशास्त्र है। सम्यक् विधान को ही संविधान कहते हैं। सम्यक् शब्द का अर्थ है- परिपूर्ण। परिपूर्णता ही सत्य है। परिपूर्ण का अर्थ है- सर्वव्यापक, सर्वात्मक। सार्वजनिक हितों, कर्तव्यों, अधिकारों का समुचित निर्धारण ही परिपूर्ण विधान कहलाता है। ऐसा न्यायशील संविधान ही धर्मशास्त्र है। धर्मनीति और राजनीति वास्तव में दो बातें नहीं हैं। राष्ट्र की समस्त नीतियों को ही धर्मनीति कहते हैं। धारण करने योग्य नीति ही धर्मनीति है। अतः धर्मनीति से हटकर कौन सी नीति राष्ट्र में अपनाने योग्य हो सकती है। सत्यज्ञान के आधार पर निर्धारित नियम-नीति, विधि-विधान ही न्याय के आधार हैं। अतः न्यायनीति ही धर्मनीति है। इस धर्मनीति के अतिरिक्त यदि किसी राजनीति का भिन्न अस्तित्व

है तो वह निश्चय ही अन्याय और अनीति की ही पोषक होगी। सुयोग्य पाँच व्यक्तियों द्वारा संचालित न्याय पंचायत व्यवस्था ही वास्तविक धर्मनीति होगी। जैसे पाँच ही प्राण इस देहरूपी राष्ट्र को संचालित करते हैं, वैसे ही पाँच प्राणी इस देशरूपी राष्ट्र को भी संचालित करने के लिए पर्याप्त हैं। अतः द्वन्दात्मक दलवादी राजनीति सर्वथा परित्याज्य है।

59. गुणात्मक लोकपंचायत प्रणाली

''नई राजनीतिक व्यवस्था पंचगणतन्त्र के रूप में विकसित होगी। इसका सामयिक सन्दर्भों में विकास किया जाएगा। भारतीय जीवन में ग्राम का अर्थ कभी भी कूपमण्डूक जीवन नहीं रहा है। ऋग्वेद के ऋषि ने कहा था- 'विश्वं तुष्टं ग्रामेऽस्मिन् अनातुरम्।' अर्थात् हमारे ग्राम में परिपुष्ट विश्व का दर्शन होना चाहिए। आगे ऋषि कहता है- 'अनु जनान् यतते पंचधीराः।' अर्थात् बुद्धिमान ज्ञानीजन पंचगणों के निर्णय का अनुसरण करते हैं। इन्हीं आधारों पर राजनीतिक क्रान्ति का सूत्रपात होगा तथा पंचगणतन्त्र कायम होगा। अब आधुनिक भारत का राजनीतिक ढाँचा इसप्रकार हो सकता है- प्रत्येक ग्राम या मुहल्ले के पाँच चरित्रवान व्यक्तियों का चुनाव यथासंभव सर्वसम्मति से किया जाए और उनकी पंचसमिति स्थापित की जाए। ऐसी दस स्थानीय गणपंच समितियों को मिलाकर जनपद गणपरिषद् का गठन किया जाए। बीस जनपद गणपंच परिषदों को मिलाकर एक क्षेत्रीय गणपंच परिषद् बनेगी। हर एक क्षेत्रीय गणपंच परिषद् से एक-एक प्रतिनिधि लेकर जो गठन होगा, वह राष्ट्रीय गणपंच संघ कहलाएगा। आगे जाकर सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय गणपंच संघों से एक-एक प्रतिनिधि लेकर एक विश्व गणपंच महासंघ स्थापित किया जाएगा। प्राथमिक गणपंच समितियाँ अपने में पूर्ण स्वायत्त और स्वतन्त्र होंगी। कोई भी एक गणपंच समिति दूसरे के अधीन नहीं होगी और न कोई किसी से छोटी या बड़ी होगी। सभी गणपंच इकाइयाँ परस्पर पूरकभाव से कार्य करेंगी। सर्वोदय का पूरा दायित्व गणपंच समिति का होगा। प्रत्येक क्षेत्रवासी को रोजगार देना, उसके सत्त्व (बौद्धिक शिक्षा) और अस्मिता की रक्षा (संरक्षण) का आश्वासन देना भी गणपंच समिति की जिम्मेदारी होगी। आसपास की गणपंच समितियाँ मिलकर (सुखसुविधाओं के) निर्माण और विकास की बड़ी-बड़ी योजनाएँ भी चला सकेंगी। क्षेत्रीय प्राकृतिक सम्पदा, औद्योगीकरण तथा आबादी (जनसंख्या) का नियन्त्रण भी गणपंच समितियों के जिम्मे होगा। इसप्रकार प्रत्येक गणपंच समिति अपने में पूर्ण भी होगी और दूसरों के साथ परस्पर पूरक भी। इन आधारों पर बनी व्यवस्था स्वशासन की स्वावलम्बी व्यवस्था होगी, जिसमें समानता और स्वतन्त्रता दोनों को प्राप्त किया जा सकेगा। भारतीय चिन्तन में स्वशासित व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बुनियादी आधार पहले से ही मौजूद हैं। इनको सामयिक सन्दर्भ करके परिपुष्ट करके पंचगणतन्त्र का विकास किया जा सकता है। पंचगणतन्त्र की आर्थिकनीति में ऊर्जा, धनशक्ति और पोषण के स्रोतों पर एकाधिकार नहीं रहेगा। ये तीनों विकेन्द्रित व स्वावलम्बन के आधार पर हर एक को प्राप्त होंगे। विकेन्द्रित व स्वावलम्बी अर्थनीति में कमजोरों को भी आगे बढ़ने के पर्याप्त अवसर रहते हैं। अर्थनीति की मजबूती इसी में है कि वह कमजोरों को भी पुष्ट करे। क्योंकि किसी भी जंजीर की ताकत उसकी सभी कड़ियों की समान मजबूती पर निर्भर करती है। पंचगणतन्त्र की अर्थनीति ऐसी हो जो कमजोरों को भी पुष्ट तथा प्रतिभासम्पन्न (प्रशिक्षित) बनाए। साथ-साथ शिक्षा का भी सम्बन्ध है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए महर्षि अरविन्द ने कहा है- 'भगवान ने मनुष्य को परिपूर्णता के साथ पैदा किया है। शिक्षा वह कला है जिसके द्वारा मनुष्य अपने पूर्णत्व को प्रकट करता है। इसप्रकार गुरु का कार्य शिष्य को वह कला सिखाना हो जाता है, जिससे वह अपने परिपूर्ण व्यक्तित्व का प्रकटीकरण कर सके।' परिपूर्ण व्यक्तित्व के प्रकटीकरण की कला सीखने के बाद कोई व्यक्ति बेरोजगार रह ही नहीं सकता। जीवन में आजीविका के धन्धों के समाधान (Job Solution) की समस्याएँ भी पैदा नहीं होंगी। उपरोक्त आधारों पर खड़ी धर्मसापेक्ष गणतन्त्र व्यवस्था स्वशासित और स्वायत्त होकर सतत् प्रगति करती हुई प्रवाहित होती रहेगी।''

-(स्वामी मुक्तानन्द, सन्तचेतना, धर्म एवं राजनीति : वैकल्पिक चिन्तन)

सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या को न्यूनतम पाँच हजार की जनसंख्या वाले ग्रामपंचायतों में विभक्त

किया जाना चाहिए। ऐसी न्यूनतम दस ग्रामपंचायतों की एक प्रभाग–पंचायत हो। ऐसी न्यूनतम दस प्रभागपंचायतों की एक प्रदेशपंचायत हो तथा ऐसी न्यूनतम दस प्रदेशपंचायतों की एक देशपंचायत हो तथा ऐसी समस्त देशपंचायतों की एक विश्वपंचायत गठित हो। पंचायती शासन प्रणाली का यह स्वरूप सम्पूर्ण विश्वमानवसमाज को पाँच पंचायत द्वारा व्यवस्थित करता है। इसप्रकार से एक विश्वराष्ट्र स्थापित होता है। अद्वैतदर्शन द्वारा प्रणीत ***'विश्व-बन्धुत्व'*** *एवं* ***'वसुधैव-कुटुम्बकम्'*** *का यही आधार है। किन्तु यह राजव्यवस्था नहीं वरन् समाजव्यवस्था है। कोई किसी पर राज करे, कोई किसी को दास बनाए, यह अन्याय है। अतः पंचायतों का गठन गणतन्त्रात्मक हो अर्थात् लोकतन्त्रिक आधार पर सर्वसम्मति द्वारा प्रत्येक पंचायत के लिए नेतृत्व की सर्वोच्च गुणवत्ता, योग्यता, क्षमता, कौशल वाले पाँच सुपात्र व्यक्तियों का चयन हो। समाज के चार कार्य निर्धारित किए गए– कृषि, वाणिज्य, प्रशासन और नेतृत्व। इन चारों कर्मों को करने के लिए पात्रतानुसार योग्यता परीक्षण के आधार पर पदनिर्धारण ही न्यायोचित समाजव्यवस्था है। कृषि सम्पदा, वाणिज्यिक सम्पदा, प्रशासनिक सम्पदा एवं दैविक सम्पदा इत्यादि चारों सम्पत्तियों पर स्वतन्त्र स्वामित्व इन्हीं चारों पदाधिकारियों को प्राप्त हो, यही न्यायधर्म है। विश्व के सम्पूर्ण मानवसमाज को शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण सम्बन्धी समुचित अधिकार प्राप्त हों, यही न्यायधर्म है। समाज में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक न्याय प्रतिष्ठित हों, यही न्यायनीति है। इन सब बातों के लिए सुयोग्य पंचगणतन्त्र प्रणाली ही सात्त्विक उपाय है, क्योंकि यह जगत पंचीकृत है। पंचचेतना, पंचप्राण, पंचप्रकृति, पंचतत्त्व इत्यादि के द्वारा ही सम्पूर्ण विश्व गतिमान है। अतः इस पंचायती व्यवस्था से सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र अखण्डता, एकता, समता एवं शुभता प्रतिष्ठित होगी और विखण्डता, अनेकता, विषमता एवं दुष्टता की निवृत्ति होगी।*

60. पाँच पंचायतें ही सार्वभौमिक नेतृत्व के लिए पर्याप्त हैं

व्यक्तियों का जोड़ परिवार है, परिवारों का जोड़ समाज है। इस समाज को ही ग्राम कहते हैं। ग्राम को ही ग्रुप अथवा समूह भी कहा जाता है। सामान्यतः विश्वमानवसमाज की सबसे छोटी इकाई को ग्राम के रूप में परिभाषित किया जाता है। औसतन 5 से 10 हजार की जनसंख्या वाले समूह को ग्राम की परिभाषा के अन्तर्गत माना जा सकता है। व्यवस्था की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण विश्व को ऐसे ही अनेक ग्रामों के रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है। ऐसे प्रत्येक ग्रामक्षेत्र में लोकनेतृत्व की दृष्टि से एक लोकपंचायत का गठन किया जा सकता है, जिसमें पाँच सर्वोच्च वरीय व्यक्तियों का चयन किया जा सकता है और इन समस्त पंचायतों को पारस्परिक रूप से संयोजित करने के लिए ऐसी 5 से 10 ग्राम पंचायतों पर एक प्रभाग पंचायत का भी प्रावधान किया जा सकता है। तत्पश्चात् ऐसी 5 से 10 प्रभाग पंचायतों को परस्पर संयुक्त बनाने के लिए एक प्रदेश पंचायत का प्रावधान किया जा सकता है। इसीप्रकार ऐसी 5 से 10 प्रदेश पंचायतों को संयोजित करने के लिए एक देश पंचायत का गठन भी किया जा सकता है। इसीप्रकार सम्पूर्ण विश्व को सूत्रबद्ध करने के लिए ऐसी समस्त देश पंचायतों पर एकमात्र विश्व पंचायत का गठन भी किया जा सकता है। कुल मिलाकर व्यवस्था की दृष्टि से पाँच प्रकार की पंचायतों का गठन सिद्ध होता है। किन्तु नागरिक निवास की दृष्टि से केवल ग्राम पंचायत ही प्रशस्त होती है। अन्य पंचायतें केवल व्यवस्थागत बातों के लिए मानी जाती हैं। उन पंचायतों का अलग से नगरीय विभाजन नहीं होता। समस्त नागरिक मूलतः ग्रामपंचायतों के ही नागरिक होते हैं। इन पाँचों पंचायतों का नामकरण इसप्रकार है :–

1. ***ग्राम पंचायत : न्यूनतम 5 से 10 हजार की जनसंख्या पर एक पंचायत।***
2. ***प्रभाग पंचायत : न्यूनतम 5 से 10 ग्राम पंचायतों पर एक पंचायत।***
3. ***प्रदेश पंचायत : न्यूनतम 5 से 10 प्रभाग पंचायतों पर एक पंचायत।***
4. ***देश पंचायत : न्यूनतम 5 से 10 प्रदेश पंचायतों पर एक पंचायत।***
5. ***विश्व पंचायत : समस्त देशपंचायतों पर एक पंचायत।***

(पाँचों पंचायतों के स्वरूप का उपरोक्त निर्धारण जनसंख्या सीमा और क्षेत्रीय सीमा की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हो सकता है। किन्तु जो कुछ भी निर्धारण हो, वह सम्पूर्ण राष्ट्र में समानरूप से प्रतिष्ठित होना चाहिए, जिससे कि सुखसुविधाओं के वितरण में किन्हीं दो पंचायतों के बीच में किसी भी प्रकार का अन्याय सिद्ध न हो।)

61. जंगलराज से मंगलराज की ओर यात्रा

''मध्यकाल के अन्धकार युग में सामन्ती व्यवस्था जिन दिनों चल रही थी, उन दिनों समर्थ लोग असमर्थों को अपनी इच्छानुसार चलाते थे। उन्हें पशुओं की तरह प्रतिबन्धित जीवन जीना पड़ता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला जंगली कानून चलता था। जिसप्रकार मनुष्य पशुओं को पालते और उनकी शरीरसम्पदा का लाभ उठाते हैं, वैसा ही व्यवहार समर्थजन असमर्थों के साथ करते थे। उन्हें न विरोध करने का अवसर मिलता था, न अपनी कठिनाई बताने का। अनीति को मिटाने, जूझने के प्रयास में वे असफल ही रहते थे। यह सिलसिला लम्बी अवधि तक चला। निर्बलों को, असंगठितों को, असंगठित जनों के समर्थकों को विविध-विधि अनाचार सहने पड़े। तब इन दुर्व्यवहारों को सामाजिक मान्यता भी मिली हुई थी। पति का अधिकार था कि पत्नी से चाहे जैसा व्यवहार करे। उसे चाहे जिस स्थिति में रहने के लिये विवश करे। परित्याग कर दे अथवा मार भी डाले। नारी कुछ कर नहीं सकती थी। विरोध की उसमें हिम्मत न थी। दूसरों को इसमें दखल देने का अधिकार न था। ऐसी दशा में विवशता को शिरोधार्य करते रहने के अतिरिक्त असमर्थों, असंगठितों के पास कोई चारा भी न था। जो भोगना पड़ता था, उसे भाग्यविधान कहकर अनदेखा किया जाता था। यही भारत की उन दिनों मानसिकता थी।

दास-दासी प्रथा उन्हीं दिनों धड़ल्ले से चली थी। समर्थ अपने शस्त्रबल, शरीरबल, और सैन्यबल के सहारे किन्हीं को भी बलात् पकड़ लेते थे। उन्हें बन्धनों में बाँधकर इच्छानुसार चलाते, बेचते, खरीदते, दान देते रहते थे। प्रजा पर राजा का अधिकार था। प्रजाजन राजा की सम्पत्ति माने जाते थे। उनकी सम्पदा को जब चाहे तब जब्त कर सकते थे या जितना भाग लेना चाहें, उतना कररूप में जबरदस्ती वसूली कर लेते थे।

इसे आतंक का राज कह सकते हैं। राजा, सामन्त, सेनापति, अमीर, जागीरदार, जमींदार, साहूकार अपने चंगुल में फँसे हुए लोगों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करते थे। न्यायभाव जैसी कोई बात नहीं थी। राजा का धर्म ही प्रजा का धर्म बन जाता था, व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक अपने लिये धर्म चुनने या बदलने, छोड़ने जैसा अधिकार न था। इस दयनीय स्थिति में मनुष्यजाति के दुर्बलपक्षों को पिछले दिनों लम्बी अवधि तक रहना पड़ा है।

समय ने करवट बदली। युग बदला, विवेक जगा और शक्ति सामन्तों के हाथ से निकलकर सामान्य जनों के हाथ आई। इसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन सामने आये। इनमें सबसे बड़ी बात हुई- मानवी मौलिक अधिकारों को मान्यता मिलना। न्याय और औचित्य को प्रश्रय मिला। असमर्थों में बदला लेने की या अपने बलबूते चलती हुई मनमर्जी को रोक सकने की प्रत्यक्ष सामर्थ्य तो थी नहीं, तो भी लोकचेतना ने ऐसा वातावरण बनाया जिससे विवेक और न्याय के औचित्य की आवश्यकता समझी और समझाई जाने लगी। प्रजाजनों के संख्याबल के औचित्य को अपनाए जाने का दबाव पड़ने से हर क्षेत्र में, हर देश में ऐसी हवा बही कि न कोई मुकदमा चला, न कोई संघर्ष हुआ पर न्याय के समर्थकों की एक समर्थ सेना सर्वत्र एकत्र उठ खड़ी हुई और उसने अपने ढंग से संघर्ष भी किए और परिवर्तनों का भी माहौल बनाया।

इन दिनों मनुष्य के मौलिक अधिकारों का उपयोग कर सकने के प्रचलन चल पड़े हैं। वाणी की, लेखनी की, अभिव्यक्ति की, धर्म की, मानवी समता की मान्यताएँ मिल गई हैं, मिल रही हैं। मतदान द्वारा सरकारें बनाने का प्रवाह भी सर्वत्र चलता देखा जा सकता है। जिनकी दाढ़ों में आधिपत्य का चस्का लगा हुआ है, वे उस जनाधिकार को निरस्त करने के भी कम प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। सफलता को असफलता की दिशा में घसीटने के लिये प्रतिक्रियावादी कमजोर नहीं लग रहे हैं। फिर भी बहती प्रचण्ड धारा को देर तक रोके रह सकना किसी के भी वश की बात नहीं है। दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी संघर्ष को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

सर्वसाधारण को युगचेतना के उभार और अवलोकन से परिचित कराया जा रहा है कि मनुष्यमात्र को समानता अपनाते हुए सहयोगपूर्वक रहना चाहिए। 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त अपनाना चाहिए। अपने को किसी से बढ़कर नहीं मानना चाहिए और किन्हीं की विवशताओं का

अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। परम्पराओं की दुहाई देकर पिछली भूलों पर चलते हुए अनौचित्यों को पूर्ववर्ती प्रथा-प्रचलन कहकर युगचेतना के कार्य में अवरोध उत्पन्न नहीं करना चाहिए।

जहाँ अनौचित्य की भूली-बिसरी स्मृतियों को फिर से कार्यान्वित करने के लिये प्रतिगामी प्रयास किये जा रहे हों, वहाँ आगे बढ़कर रोकथाम करनी ही चाहिए। अनौचित्य का विरोध किया जाना चाहिए। उसे असफल बनाने के लिये असहयोग से लेकर संघर्ष तक के यथासम्भव कदम उठाने चाहिए। दुर्बलपक्ष अनीति का शिकार हो रहा हो तो उसे साहस प्रदान करना चाहिए तथा समर्थन भी। समता और एकता का सार्वभौम प्रचलन भलीप्रकार स्थिर हो सके और अपने पैर इतनी मजबूती से जमा सके कि उन्हें उखाड़ सकना किसी के लिये भी संभव न हो सके। इसी के निमित्त अपना नैतिक और क्रियात्मक प्रत्यक्ष सहयोग प्रदान करना चाहिए। यही है समय की पुकार, युग की माँग, औचित्य की गुहार। उसे भलीप्रकार सुना व समझा जाना चाहिए।

मानवी अधिकारों के हनन में जहाँ अत्याचारीवर्गों की ज्यादतियाँ काम करती हैं, वहाँ एक कारण यह भी रहा है कि उत्पीड़ितों ने बहुसंख्यक होते हुए भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता प्रकट नहीं की। उस मान को, उस गौरव को भी उसने भुला दिया। यदि उन्होंने अपने को, अपनी शक्ति को, मौलिक अधिकार भावना को अपने अन्दर जगाया होता, तो इतने प्रयत्न से भी अनाचारियों के सीने ठनके होते और उन्होंने भावी विद्रोह की सम्भावना को समझते हुए सुधार परिवर्तन की नीति अपनाई होती। भले ही वह धीमी रही होती, पर दबाव तो उससे निश्चित रूप से हल्का हुआ होता।

संसार के विभिन्न भागों पर राजतन्त्र का, साम्राज्यवाद का, पूँजीवाद का बोलबाला रहा है। इसका अनौचित्य उत्पीड़क और पीड़ित दोनों ही समझते रहे हैं, पर लम्बे समय तक यथास्थिति बनी रही। कारण यही था कि शोषित वर्ग ने या तो आवाज उठाई ही नहीं या उठाई तो वह धीमी एवं असंगठित थी। जैसे ही साहस उभरा और शोषितवर्ग अनीति के प्रति विद्रोह पर उतारू हुआ, वहाँ परिस्थितियाँ तुरन्त बदलीं। भले ही आरम्भ में शोषकों ने दमन का आश्रय लिया हो, पर वह दबाव बहुत समय तक जारी नहीं रह सका। निर्बल होते हुए भी नीतिपक्ष जीता और अपने अधिकार वापस लेकर रहा। जागरूकों को सफलता मिल चुकी है। आवश्यकता इस बात की है कि मानवीय मौलिक अधिकारों की यथार्थता एवं आवश्यकता से जन-जन को अवगत कराया जाय। इसीप्रकार शोषित जागेंगे और शोषक दबेंगे।'' -(श्रीरामशर्मा आचार्य, ग्रन्थ : धर्मतत्त्व का दर्शन और मर्म)

62. शहादत से पूर्व सरदार भगतसिंह का पत्र

''माँ! मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि एक दिन मेरा देश आजाद हो जायेगा। लेकिन मुझे शक है कि गोरे साहबों द्वारा खाली की गई कुर्सियों पर ब्राउन साहब बैठ जायेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि घिसीपिटी पुरानी (अन्याय) व्यवस्था जो प्रगति के रास्ते में दीवार बनकर खड़ी है, को नष्ट किये बिना कोई परिवर्तन संभव नहीं है। दार्शनिकों ने विश्व की अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं, लेकिन असली मुद्दा इसमें परिवर्तन का है- जो केवल क्रान्ति से ही संभव है।''

-(सरदार भगतसिंह, शहादत से पूर्व माँ विद्यावती को लिखे गये पत्र का अंश)

समुद्रों के पार से आयी हुई दासता की अँग्रेजी बेड़ियों को तोड़ फेंकने वाले स्वतन्त्रता संग्राम में लाखों भारतीय नागरिक शहीद हो गये। हँसते-हँसते फाँसी के फन्दों पर झूल गये। इसलिए कि राष्ट्र स्वतंत्र होगा, न्यायशील संविधान बनेगा, सुखशांति आयेगी। किन्तु उन्हें यह भी जानकारी थी कि बाहर की बेड़ियाँ टूटेंगी तो घरेलू हथकड़ियाँ जकड़ लेंगी। दासता (गुलामी) चाहे देशी हो या विदेशी दोनों ही दुःखद हैं। वास्तव में सामाजिक न्याय ही स्वतन्त्रता है। जनता के मध्य पारस्परिक सममूल्यवत्ता का बर्ताव ही आजादी है। सामाजिक न्याय के चार अंग हैं– आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय एवं आध्यात्मिक न्याय। देखिए गाँधी और सुभाष जैसे आजादी के सूत्रधार क्या कहते हैं :–

'आलीशान भवनों और गंदी झोपड़ियों में रहने वालों के बीच की खाई को यदि शीघ्र नहीं पाटा गया तो इस दिशा में खूनी क्रांति को कोई टाल नहीं सकता।' –(महात्मा गाँधी)

'अँग्रेजों को हटाने मात्र से ही स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र-सम्पदा का समान वितरण ही वास्तविक स्वतंत्रता कहलायेगी'। –(सुभाषचन्द्र बोस)

'जातिविहीन समाज की स्थापना के बिना स्वराज्य प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं है।' (क्योंकि जाति नहीं गुण के आधार पर कर्मों का विभाजन किया जाना चाहिए।) –(डा० भीमराव अम्बेडकर)

दुनियाभर के सभी सच्चे और भले इंसान सामाजिक न्याय के पक्ष में हैं तथा सार्वजनिक जीवन में समता एवं औचित्यता के न्यायसिद्धान्त के आधार पर समस्त नागरिकों के लिए मौलिक अधिकारों का समुचित निर्धारण एवं संरक्षण चाहते हैं और शिक्षा, आजीविका, सुखसुविधा एवं संरक्षण की सर्वसुलभता के पक्षधर हैं।

किन्तु जो झूँठे और बुरे राजनैतिक इंसान हैं, वे अपनी असीम स्वार्थलिप्सा में छल–बल के द्वारा अधिकाधिक संसाधनों–सुविधाओं–अधिकारों पर अन्यायपूर्ण कब्जा जमाये रखना चाहते हैं तथा अन्य अपने ही भाईयों के साथ अन्याय किये चले जाते हैं। देखिए इन राजनीतिक नर–पिशाचों के बारे में सुप्रसिद्ध भारतीय कवि श्री रामधारी जी 'दिनकर' क्या कहते हैं :–

अटका कहाँ स्वराज्य? बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गयी वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग्य दबा रखे हैं जिसने अपने कर में।
उतरी थी जो विभा, बता बन्दिनी हुई किस घर में?
समर शेष है यह प्रकाश बंदीगृह से छूटेगा।
और नहीं तो तुझ पर इक दिन महावज्र टूटेगा।।

विश्वजीवन में शाश्वत न्यायधर्म की नितान्त आवश्यकता है। द्वन्द्वदृष्टिजनित पारस्परिक अन्याय पृथ्वी को युद्ध, आतंक, भ्रष्टाचार, लूटमार, हिंसा–हत्या के नारकीय वातावरण में धकेल देता है। इतिहास बताता है कि विगत पाँच हजार वर्ष में पन्द्रह हजार युद्ध पृथ्वी पर लड़े गये हैं। जिसमें अरबों की संख्या में मनुष्यों की हत्यायें हुई हैं। 'दिनकर' का एक और वचन देखें :–

अधिकार खोकर बैठना भी तो महादुष्कर्म है।
न्यायहित में बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।।
जब तक मानव-मानव का सुखभाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नहीं कम होगा।।

अतः राष्ट्रशान्ति अथवा विश्वशान्ति के समस्त अभियान तब तक असफल होते रहेंगे जब तक न्यायोचित अधिकारों का निर्धारण नहीं होगा। न्यायशील संविधान ही विश्वविधान हो सकता है। परस्पर द्वन्द्वात्मक अन्याय सर्वथा परित्याज्य है।

63. न्यायशील भारतवर्ष का पुनर्निर्माण

वर्तमान भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के किसी भी राष्ट्र में न्यायशील व्यवस्था नहीं है। न्यायशील व्यवस्था के लिए सबसे पहले न्यायशील संविधान का निर्माण आवश्यक होता है। अन्यायी विधि–विधान कभी भी संविधान का रूप नहीं ले सकते, क्योंकि समता का विधान ही संविधान कहलाता है। विषमता का विधान तो केवल विषंविधान ही कहलाएगा। संविधान समस्त नागरिकों के लिए सदैव संपूज्य है। जबकि विषंविधान समस्त नागरिकों के लिए सदैव अपूज्य है। एक ऐसा संविधान जो सार्वजनिक जीवन में राष्ट्र के समस्त नागरिकों के लिए समुचित जनाधिकारों का निर्धारण एवं तदनुकूल नियम–नीति का निर्देश करता हो, वही सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है। लोकतान्त्रिक प्रणाली में लोकमत के आधार पर ही संविधान का निर्माण होता है और लोकमत के आधार पर ही लोकनेतृत्व का गठन होता है। निश्चय ही लोकमत उन्ही बातों के पक्ष में होता है, जो बातें लोकहित को सिद्ध करने वाली होती हैं। जनता में से प्रत्येक व्यक्ति के समुचित हितों को सिद्ध किए बिना लोकमत अथवा सर्वमत अथवा जनमत का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता। अतः एक ऐसे संविधान की आवश्यकता है, जो सर्वहित का पक्षधर हो, जो जनता में से प्रत्येक के समुचित हितों का पक्षधर हो। वस्तुतः सबके समुचित हितों का निर्धारक विधान ही

संविधान है। ऐसा संविधान ही न्यायशील संविधान कहलाता है। संक्षेप में कहें तो जो प्रत्येक व्यक्ति को समुचित शिक्षा, प्रत्येक परिवार को समुचित रोजगार, प्रत्येक ग्राम को समुचित सुखसुविधा एवं प्रत्येक संवर्ग को समुचित संरक्षण प्रदान करने वाला हो, वह संविधान ही न्यायशील संविधान है और वह व्यवस्था ही न्यायशील व्यवस्था है और वह राष्ट्र ही न्यायशील राष्ट्र है। एक ऐसा राष्ट्र जो समस्त नागरिकों के आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक हितों का समुचित संरक्षण करता हो, वही न्यायशील राष्ट्र है। किन्तु जो साम (चापलूसी), दान (घूस), दण्ड (भय), भेद (फूट) आदि आधारों पर जनता के साथ छल-बलपूर्वक व्यवहार करता है, वह विधान, वह व्यवस्था, वह राष्ट्र, वह सरकार, वह शासन अन्यायी और पापी है।

आवश्यकता इस बात की है कि साम, दान, दण्ड, भेद से ऊपर उठकर सत्य, प्रेम, न्याय, पुण्य पर आधारित राष्ट्रीय व्यवस्था का गठन किया जाए, जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज और समष्टि का कल्याण संभव हो सके। व्यक्ति का कल्याण सत्य में निहित है, परिवार का कल्याण प्रेम में निहित है, समाज का कल्याण न्याय में निहित है, समष्टि का कल्याण पुण्य में निहित है।

समाज के प्रत्येक सदस्य को समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा और समुचित संरक्षण प्रदान करके ही राष्ट्र के समस्त नागरिकों को न्यायशील व्यवस्था दी जा सकती है। क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समुचित शिक्षा के द्वारा होता है। परिवार के जीवन का निर्वाह समुचित आजीविका या रोजगार के द्वारा होता है। ग्राम का विकास समुचित सुखसुविधाओं के द्वारा होता है। जीवन का कल्याण समुचित संरक्षण के द्वारा होता है। अतः वर्तमान धरती पर एक ऐसे न्यायशील भारतवर्ष के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है, जो पूर्वकाल में भी इस धरती पर कभी प्रतिष्ठित हुआ था, जो सबका पक्षधर था, जो किसी का प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, जो सबको आत्मसात करता था, जो सम्पूर्ण मानवसमाज को पान्चजन्य के रूप में व्यवस्थित करता था, जिन्हें क्रमशः निषाद, कृषक, वणिक, प्रशासक, नायक कहा जाता था। निषाद अवर्ण था, शेष चार वर्ण थे। अपहरणशील व्यक्ति ही अवर्ण कहलाता है, उपार्जनशील व्यक्ति ही वर्ण कहलाते हैं। चार प्रकार के जीविकोपार्जन में लगे हुए क्रमशः चार वर्ण होते हैं, जो क्रमशः शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और चेतनात्मक क्षमता वाले व्यक्तियों का चतुष्पात् वरीयताक्रम है और इस वरीयताक्रम को क्षमता परीक्षण प्रतियोगिताओं द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। शारीरिक क्षमता ही शूद्र है, मानसिक क्षमता ही वैश्य है, भावनात्मक क्षमता ही क्षत्रिय है, चेतनात्मक क्षमता ही ब्राह्मण है। इन चारों क्षमताओं को ही क्रमशः बल, वाणी, संकल्प, साक्षी आदि नामों से भी संबोधित किया जा सकता है। इसप्रकार न्यायशील संविधान के प्रतिष्ठित होते ही चिरपुरातन सनातन वर्णाश्रम धर्म पुनर्प्रतिष्ठित हो जाता है, क्योंकि जो कुछ भी सत्य, प्रेम, न्याय, पुण्य के अनुकूल है, वही सनातन धर्म है और यह सनातन धर्म हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि सभी प्रकार के लोगों को सदैव स्वीकार्य है। आखिर ऐसा कौन सा व्यक्ति होगा, जो योग्यतानुसार पदों पर नियुक्ति का विरोध करे? वरीयतानुसार व्यक्तियों को पदाधिकारी न माने? निश्चय ही न्यायशील संविधान और न्यायशील व्यवस्था का निर्धारण होते ही सम्पूर्ण धरती पर **'विश्व-बन्धुत्व'** और **'वसुधैव-कुटुम्बकम्'** का चिरपुरातन स्वप्न साकार हो जाएगा। तब राजनीतिज्ञों को एकता-अखण्डता का नारा नहीं लगाना पड़ेगा। तब साधु-महात्माओं को विश्वशान्ति का उपदेश नहीं देना पड़ेगा, क्योंकि न्यायशील भारतवर्ष के प्रतिष्ठित होते ही सर्वत्र एकता-अखण्डता और सुखशान्ति का वातावरण स्वतः उत्पन्न हो जाएगा। तब न कहीं जेहाद होगा, न कहीं आतंकवाद, न कहीं हड़ताल, न कहीं धरना। तब जातिभेद, लिंगभेद, रंगभेद, क्षेत्रभेद, धर्मभेद, वर्गभेद के पारस्परिक संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाएँगे। तब कहीं शोषण, दलन, दमन, उत्पीड़न की दूषित प्रक्रिया दिखाई नहीं पड़ेगी।

64. न्यायविधान के निर्माण हेतु जनमत संग्रह अभियान

''लोकतन्त्र में जनता की सत्ता का जन्म बन्दूक की नली से नहीं, बल्कि मतपेटियों से होता है। उग्रवादी समूह अपनी लोकप्रियता की आजमाइश चुनाव में करें।

हर उस राजनीतिक समूह को अपनी लोकप्रियता की आजमाइश चुनाव में करनी चाहिए, जो जनता के या उनके किसी हिस्से के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। जाएँ और लोगों

से कहें कि वे आपको वोट दें। विधायिका में आएँ और वे कानून बनाएँ जो आप चाहते हैं।

यह एक अहम उदारवादी उसूल है। हमारा लोकतन्त्र हमें अपने मकसद को बुलंद करने और लोगों को अपने पक्ष में करने की आजादी देता है। किसी भी राजनीतिक गुट को मीडिया के जरिए अपने विचार रखने का पूरा हक है।''

-(डा.मनमोहनसिंह : प्रधानमन्त्री भारतसरकार, पंजाबकेसरी, 22/08/2005)

लोकतन्त्र को ही न्यायतन्त्र कहते हैं। 'लोक' शब्द का अर्थ है– 'सार्वजनिक।' यह दृश्यमान सम्पूर्ण सृष्टि ही लोक कहलाती है। सार्वजनिक हितों की न्यायशील व्यवस्था को ही लोकव्यवस्था कहते हैं। सर्वहित ही न्यायहित है। जिस बात में सबका हित सिद्ध हो, वही न्यायोचित बात है। सबके समुचित हितों का निर्धारण ही न्याय कहलाता है। सन्तुलन अथवा तराजू को ही न्याय का प्रतीक माना जाता है, जिसमें दोनों पलड़े बराबर होते हैं। दोनों पक्षों की समानता ही न्याय है। निष्पक्षतापूर्वक दोनों पक्षों के समुचित हितों की स्वीकारोक्ति ही न्यायशीलता है। समता और औचित्यता ही न्यायशील निष्पक्षता के आधार पर निर्मित विधान को ही न्यायशील संविधान कहा जाता है। ऐसा न्यायशील संविधान, ऐसी न्यायशील व्यवस्था, ऐसी न्यायशील सरकार, ऐसे न्यायशील अधिकार, ऐसे न्यायशील कर्तव्य का निध ार्रण ही लोकतन्त्र कहलाता है। ऐसी न्यायशील राष्ट्रीयता को ही सम्पूर्ण जनमानस स्वीकार कर सकता है। ऐसा जनमत, ऐसा लोकमत ही लोकतन्त्र की धुरी है। अतः लोकजीवन में किसी भी न्यायशील सर्वहित की आकांक्षी सार्वजनिक संस्था, समूह, संघ, संगठन को निश्चय ही ऐसा जनमत संग्रह करने का अधिकार है। ऐसी न्यायशीलता वास्तव में पशुओं, पागलों, परजीवियों, परशोषकों, परद्रोहियों, पाखण्डियों को छोड़कर समस्त मानवसमुदाय को आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्यरूप से स्वीकार्य होती है। इस तथ्य को जनमत संग्रह अभियान के माध्यम से जाना जा सकता है। अतः ***'न्यायधर्मसभा'*** *जो कि ऐसी ही एक लोकसेवी, सर्वकल्याणकारी, सर्वहित की आकांक्षी न्यायशील संस्था है, उसके द्वारा भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में न्यायशीलता की स्थापना के लिए* ***'जनमत संग्रह अभियान'*** *संचालित किया जा रहा है और यह जनमत सार्वजनिक तल पर सर्वस्वीकार्य सिद्ध होने पर सार्वजनिक जीवन में ऐसी न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था, ऐसा न्यायशील राष्ट्रीय संविधान, ऐसी न्यायशील सरकार और ऐसे न्यायशील अधिकार के निर्धारण और प्रतिष्ठापन के उद्देश्य को साकार करेगी।*

65. क्या न्यायधर्मसभा जनमत संग्रह द्वारा राज्य प्राप्त करना चाहती है?

न्यायधर्मसभा न्यायरूपी धर्म की स्थापना के लिए गठित की गई है। न्याय ही मानवसमाज का धर्म है। समुचित अधिकार–व्यवहार ही न्याय कहलाता है। विषम अथवा अनुचित अधिकार–व्यवहार ही राज्य कहलाता है। अतः ***न्यायधर्मसभा राज्य प्राप्त नहीं करना चाहती, बल्कि राज्य को न्यायशील बनाना चाहती है। न्यायशील संविधान, न्यायशील राष्ट्रीयता, न्यायशील व्यवस्था, न्यायशील नागरिकता, न्यायशील नैतिकता, न्यायशील अधिकार–कर्तव्य, न्यायशील आचार–व्यवहार की स्थापना के लिए न्यायधर्मसभा कार्य कर रही है। ऐसी न्यायशीलता के प्रतिष्ठित होने के पश्चात् न्यायधर्मसभा की भूमिका समाप्त हो जाएगी। न्यायधर्मसभा इस राजतन्त्र को समाप्त कर विशुद्ध लोकतन्त्र को स्थापित करना चाहती है, तथा राजनीति को समाप्त कर न्यायनीति प्रतिष्ठित करना चाहती है।*** *न्यायशील व्यवस्था में न्यायशीलता के आधार पर सभी कार्य किए जाएँगे। कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, नेतृत्व आदि चारों कर्मों के लिए न्यायशील समुचित वरीयताक्रम का निर्धारण होगा। जो व्यक्ति जिस वरीयता, अर्हता, पात्रता को धारण करने वाला होगा, वह तदनुकूल कर्मों का अधिकारी होगा। उसमें किसी छल, बल, दल, समूह, संगठन, संघ, संस्था आदि की कोई भूमिका शेष नहीं रह जाती। व्यक्तियों की नियुक्ति उनकी गुणवत्ता, योग्यता, क्षमता, कौशल के आधार पर कृषक, वणिक, प्रशासक, नायक आदि चारों पदों पर होती है। यह नियुक्ति किसी दल अथवा संगठन विशेष से नहीं बल्कि सार्वजनिक जनता में से सभी को सभी पदों पर आवश्यक वरीयता सिद्ध होने पर ही संभव होगी। अतः न्यायधर्मसभा की भूमिका काँग्रेस, बीजेपी, बीएसपी आदि अनेक प्रकार के वर्तमान राजनीतिक दलों की भाँति कदापि नहीं होगी, बल्कि न्यायशीलता प्रतिष्ठित होते ही भारतसहित सम्पूर्ण विश्व से सभी प्रकार के राजनैतिक दलों की समाप्ति हो*

जाएगी। दल-बल-छल से किसी भी पद पर नियुक्ति की कोई संभावना शेष नहीं रहेगी। दलतन्त्र पूर्णतः समाप्त हो जाएगा, शुद्ध लोकतन्त्र प्रतिष्ठित हो जाएगा। तब चुनाव दल में से नहीं, बल्कि लोक में से होगा, सार्वजनिक जनता में से होगा और यह चुनाव वरीयता और लोकप्रियता दोनों पर आधारित होगा। चुनाव आयोग द्वारा पहले वरीयता का परीक्षण होगा। इसके लिए प्रत्याशियों की गुणवत्ता, योग्यता, क्षमता, कौशल आदि के परीक्षण द्वारा वरीयताक्रम का निर्धारण होगा और नेतृत्वपद के लिए वरीय सिद्ध होने वाले व्यक्तियों में से जनता द्वारा मतदान की प्रक्रिया के माध्यम से सांसद, सभासद, पार्षद आदि नैतिक पदों पर नियुक्ति की जाएगी। यह मतदान की प्रक्रिया द्वारा चयन सर्वमत अथवा बहुमत पर आधारित होगा।

राजनैतिक दलों के बीच राज्यसत्ताप्राप्ति का संघर्ष तब पूर्णतः समाप्त हो जाएगा, क्योंकि तब राजा और प्रजा के बीच का भेद शेष नहीं होगा, बल्कि लोक या सार्वजनिक जीवन में से कोई भी व्यक्ति अपनी वरीयता, अर्हता, पात्रता के अनुरूप कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, नेतृत्व आदि कोई भी कर्म करने अधिकृत होगा। तब राजनैतिक दलों की कोई भूमिका शेष न रह जाएगी। तब चुनावप्रचार आदि की भी कोई भूमिका शेष न रह जाएगी। वरीय सिद्ध होने वाले व्यक्तियों के जीवनवृत्त का लेखा-जोखा सरकारी खर्चे पर एक ही पुस्तक में प्रकाशित करके समस्त मतदाताओं के पास भेज दिया जाएगा। तब सैकड़ों की संख्या में सांसदों, सभासदों, विधायकों, पार्षदों आदि के चुने जाने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाएगी। बल्कि किसी भी संसद, सभा अथवा परिषद के लिए केवल पाँच ही व्यक्ति पर्याप्त होंगे और ग्राम, प्रभाग, प्रदेश, देश, विश्व आदि पाँचों तलों पर केवल पाँच प्रकार की पंचायतों का गठन ही सम्पूर्ण विश्व के नेतृत्व हेतु पर्याप्त होगा।

66. न्यायशील भारतवर्ष के निर्माण हेतु जनमत संग्रह अभियान

न्यायधर्मसभा द्वारा न्यायशील भारतवर्ष के निर्माण के लिए एक व्यापक 'जनमत संग्रह अभियान' चलाया जा रहा है, जो 1 जनवरी, 2006 से 31 दिसम्बर, 2010 तक वर्तमान भारत की सीमारेखा के भीतर संचालित किया जा रहा है। यद्यपि यह कार्यक्रम भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त राष्ट्रों के समस्त नागरिकों के लिए संचालित है, किन्तु सर्वप्रथम यह पंचवर्षीय अभियान केवल वर्तमान भारतराष्ट्र के पुनर्गठन के लिए संचालित किया जा रहा है। विश्व का कोई भी एक राष्ट्र यदि न्याय में प्रतिष्ठित हो जाएगा, तो सम्पूर्ण विश्व को इस न्यायशीलता की जलवायु से ओत-प्रोत होते देर न लगेगी। यह भविष्यवाणी नहीं बल्कि यह वर्तमानवाणी है।

न्यायशील भारतवर्ष के निर्माण का एक ही उपाय है कि राष्ट्र में चारों जनाधिकारों की प्रतिष्ठा हो। राष्ट्र की जनता को समुचित शिक्षा, समुचित आजीविका, समुचित सुखसुविधा, समुचित संरक्षण सुलभ होना सुनिश्चित होते ही सम्पूर्ण राष्ट्र में न्यायशील व्यवस्था का स्वतः उदय हो जाता है। शिक्षा से व्यक्तियों के वरीयताक्रम के चार स्तरों का समुचित निर्धारण हो जाता है। वरीयताक्रम से आजीविका के चारों संसाधनों का प्रतिपरिवार समुचित विभाजन हो जाता है। अल्पवरीय के लिए कृषिकर्म, अर्धवरीय के लिए वाणिज्यकर्म, अधिवरीय के लिए प्रशासनकर्म, पूर्णवरीय के लिए नेतृत्वकर्म प्रशस्त हो जाता है। इसप्रकार शिक्षा और रोजगार इन दो प्रकार के जनाधिकारों से व्यक्ति और परिवार अथवा नागरिकों का बाल्यकाल और युवाकाल सुव्यस्थित हो जाता है। इसीप्रकार सुखसुविधा के समुचित वितरण से प्रत्येक ग्रामक्षेत्र समुन्नत हो जाता है और संरक्षण से समष्टि के चारों संवर्गों का कल्याण सुनिश्चित हो जाता है, जिसमें जड़पदार्थ, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य आदि सम्पूर्ण जीवनसृष्टि अथवा सम्पूर्ण प्रकृति एवं पर्यावरण सुव्यवस्थित हो जाता है। वास्तव में ये शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण प्राप्ति के चारों जनाधिकार अथवा सरकारी कर्तव्य ही सम्पूर्ण राष्ट्र की समस्त समस्याओं के मौलिक समाधान हैं। अतः इन चारों जनाधिकारों अथवा सरकारी कर्तव्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए ही भारत में पंचवर्षीय ***'जनमत संग्रह अभियान'*** *संचालित किया जा रहा है। यह जनमत अथवा लोकमत संग्रह की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि इसी जनमत अथवा लोकमत के आधार पर लोकतन्त्र में संविधान का निर्माण, सरकार का गठन, व्यवस्था का निर्धारण एवं जनाधिकारों का निर्धारण किया जाता है। लोकमत के बिना लोकजीवन में कोई भी कार्य किया जाना अनैतिक है। इसलिए लोकमत का सर्वेक्षण किए बिना सार्वजनिक तल पर कोई भी कार्य नहीं*

किया जाना चाहिए। सार्वजनिक सहमति से ही कोई सार्वजनिक निर्णय लिए जाने चाहिए। अतः जनता की सहमति एवं सहयोग के द्वारा ही भारतवर्ष का पुनर्गठन किया जा रहा है।

जो लोग भी इस न्यायशील भारतवर्ष के निर्माण से सहमत हैं और सहयोगी हैं, उन सभी को मिलाकर एक नूतन न्यायशील राष्ट्र का निर्माण होगा, जिसमें भारतसहित विश्व के समस्त देशों का जनसमुद्र समाहित होगा और उस नूतन न्यायशील राष्ट्र का न्यायशील नागरिक बनेगा।

67. न्यायशीलता से असहमत जनों का क्या होगा?

जनमत संग्रह अभियान प्रारम्भ करने से पूर्व 90% से भी अधिक व्यक्तियों के सहमत होने की संभावना व्यक्त की गई थी। किन्तु न्यायधर्मसभा द्वारा किए गए अब तक के जनमत सर्वेक्षण के पश्चात् 99% से भी अधिक लोगों के सहमत होने का परिणाम सामने आया है। अतः 1% असहमत होने वाले जनों को उनकी स्वेच्छानुसार इस विश्वभूतल पर अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह आदि जहाँ कहीं भी वे रहना पसन्द करें, उन 1% जनों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में 1% भूमि प्रदान कर दी जाएगी। वे और उनके प्रियजनों और समर्थकों को उस भूतल पर रहने और अपना अन्यायशील विषविधान और अन्यायशील दुर्व्यवस्था और अन्यायशील सरकार बनाने की स्वतन्त्रता होगी। इसप्रकार 99% लोगों का एक राष्ट्र और 1% का दूसरा राष्ट्र होगा। कुछ लोग सोचते हैं कि ऐसे में राष्ट्र की एकता और अखण्डता कैसे सुरक्षित रह सकेगी? क्या धरती पर न्यायवादियों और अन्यायवादियों के दो अलग-अलग राष्ट्र नहीं बन जाएँगे? इस शंका के समाधान में यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि जब वर्तमान पृथ्वी पर 300 से भी अधिक राष्ट्र हैं, तो क्या धरती की एकता और अखण्डता सुरक्षित बची हुई है? यदि नहीं तो इन सभी राष्ट्रों को मिलाकर यदि केवल दो राष्ट्रों में समाहित कर दिया जाए, तो वह स्थिति निश्चय ही अधिक अच्छी स्थिति कहलाएगी। दूसरी बात यह है कि ये अन्यायवादी इसलिए जीवित और सुरक्षित बचे हुए हैं, क्योंकि उनके बीच कुछ दूसरे भोले-भाले लोग भी रहते हैं। यदि दुर्जनों और सज्जनों को छाँटकर उन्हें दो राष्ट्रों में विभक्त कर दिया जाए, तो नर्क और स्वर्ग की भाँति पृथ्वी पर दोनों का अस्तित्व आपसी सन्तुलन बनाए रखेगा। जिन नारकीय प्राणियों का सुधार हो जाएगा, वे न्यायशील स्वर्गभूमि पर निवास करने के लिए स्वागत योग्य होंगे। इसीप्रकार स्वर्गतुल्य भूमि के जिस किसी निवासी का किसी कारणवश पतन हो जाएगा वह दुष्ट, दुर्जन, दुराचारी होकर अपराध प्रवृत्ति वाला हो जाएगा, उसको समाज से भंग करके नर्कभूमि की ओर भेज दिया जाएगा। इसप्रकार दोनों स्वर्ग-नर्क परस्पर सन्तुलनपूर्वक प्रतिष्ठित रहेंगे। अभी तो सज्जनों-दुर्जनों के घालमेल से सम्पूर्ण पृथ्वी ही नर्कतुल्य हो गई है। जाति-जाति के संघर्ष, देश-देश के संघर्ष, राज्य-राज्य के संघर्ष, वर्ग-वर्ग के संघर्ष, पन्थ-पन्थ के संघर्ष ही सम्पूर्ण पृथ्वी पर सर्वत्र दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं भी सुख-शान्ति का वातावरण नहीं है। हिंसा, हत्या, अपहरण, बलात्कार, चोरी, डकैती, भय, आतंक, धरना, हड़ताल, दुराक्रमण, दुष्क्रान्ति से मानवसमाज जंगल का रूप ले चुका है। समाज को जंगलराज से मंगलराज की ओर ले जाने के लिए यही उपाय है कि जनमत संग्रह के आधार पर न्याय के लिए सहमत और असहमत लोगों को सज्जन और दुर्जन के रूप में छाँटकर अलग-अलग किया जाए। सज्जनों को मिलाकर एक राष्ट्र बनाया जाए और दुर्जनों को उनकी स्वेच्छानुसार स्वतन्त्र कर दिया जाए। सज्जनों के निवासक्षेत्र को आर्यावर्त और दुर्जनों के निवासक्षेत्र को दैत्यावर्त घोषित किया जाए, क्योंकि न्यायशील सज्जनों को ही आर्य कहते हैं, अन्यायी दुर्जनों को ही दैत्य कहते हैं। 'आर्य' शब्द का अभिप्राय है- ज्ञानवान, प्रकाशवान, नेत्रवान, बुद्धिवान, विवेकवान, न्यायवान, सत्यवान, प्रेमवान, पुण्यवान आदि। इसप्रकार पृथ्वी पर स्वर्ग और नर्क दोनों का अलग-अलग स्थान सुनिश्चित किया जाए। दुर्जन लोग केवल दुर्जन को ही सताएँ, तो इसमें कोई बुरी बात नहीं है। किन्तु दुर्जन जब सज्जनों को सताने लगें, तब यह पाप है; जिससे सम्पूर्ण धरती के विनाश की संभावना उत्पन्न हो जाती है। सिंह, भेड़िया, श्रृगाल, घड़ियाल आदि दुर्जन प्रवृत्ति वाले प्राणी, जिनमें उपार्जनवृत्ति नहीं, बल्कि अपहरणवृत्ति होती है, ऐसे दुष्टों, दुर्जनों को मानवसमाज से बहिष्कृत करके दानवसमाज की ओर भेज दिया जाना चाहिए। मानव और दानव दोनों के राष्ट्र अलग-अलग हों, इसी में धरती का कल्याण है। अन्यथा सिंहों द्वारा गायों का शोषण, भेड़ियों द्वारा भेड़ों का शोषण वाली जंगली दुष्प्रवृत्ति मानवजीवन को मानवता से वंचित कर देगी।

वैसे भी राष्ट्र की एकता–अखण्डता पर आँच आने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि दो सिंह एक पिंजरे में एक साथ नहीं रह सकते। कुछ सात्त्विक प्राणियों का होना ही उन दुष्ट प्राणियों के जीवित रहने का एकमात्र आधार है। यदि सभी दुष्टों को छाँटकर एक ही स्थान पर एकत्रित कर दिया जाए, तो वे आपस में ही एक–दूसरे को चीर–फाड़ डालेंगे। एक अपराधी दूसरे अपराधी को जीवित ही नहीं रहने देगा और जब दोनों ओर ही अपराधी हों, तब वहाँ का दृश्य अद्भुत होगा। एक डकैत दूसरे डकैत को लूट लेगा, फिर दूसरा डकैत पहले डकैत को लूट लेगा। इसप्रकार परस्पर लूटमार की प्रक्रिया द्वारा वे एक–दूसरे का जीना दुश्वार कर देंगे। अन्ततः दुर्जनों द्वारा अधिगृहीत भूमि स्वतः खाली हो जाएगी और वह भूमि भी सज्जनों के रहने के लिए सुलभ हो जाएगी। इसप्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही राष्ट्रीयता स्वतः प्रतिष्ठित हो जाएगी। जिसप्रकार से डायनासोरों का वंशनाश हो गया था, उसीप्रकार से दुर्जनों की पीढ़ियाँ भी समाप्त हो जाएँगी। आज सिंहवंश, घड़ियालवंश आदि का नाश भी सन्निकट है। दुष्ट सरकारों द्वारा इन खूँखार प्राणियों की रक्षा के उपाय किए जा रहे हैं अन्यथा इन खूँखार प्रजातियों का अन्त भी सन्निकट है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि सज्जनों और दुर्जनों की राष्ट्रीयता भिन्न होना आवश्यक है अन्यथा गेहूँ के साथ घुन पिस जाने का खतरा होता है। बुरों के साथ भलों का नाश भी होना संभव है। जैसे बुरे डायनासोरों के साथ भले डायनासोर भी समाप्त हो गए। खूँखार डायनासोरों ने पहले शाकाहारी डायनासोरों को मार डाला और खा गए। फिर जब शाकाहारी प्राणी समाप्त हो गए, तब उन खूँखार डायनासोरों ने आपस में एक–दूसरे को मौत के घाट उतार दिया। आज के मानव को इन ऐतिहासिक घटनाओं से सीख ग्रहण करनी चाहिए और अतिशीघ्र न्याय का पथ स्वीकार करना चाहिए और पारस्परिक हितों–अधिकारों, कर्तव्यों–उत्तरदायित्वों का समुचित निर्धारण करना चाहिए।

68. न्याय से सहमत, असहमत एवं मतविहीन दशा

*राष्ट्र में न्याय की स्थापना हेतु संचालित **'जनमत संग्रह अभियान'** में जनता के बीच तीन प्रकार की मतदशा संभावित हैं। न्यायशील जनाधिकारों से कुछ लोग सहमत होते हैं, कुछ लोग असहमत होते हैं, कुछ लोग मतहीन होते हैं। क्योंकि समाज में तीन प्रकार की मनोदशा होती है– शुभ, अशुभ, शुभाशुभ। इनमें से शुभ मनोदशा वाले लोग तो न्यायशीलता से सदैव सहमत ही होते हैं। किन्तु अशुभ मनोदशा वाले लोग न्यायशीलता से सदैव असहमत होते हैं। इन शुभ और अशुभ का जोड़ ही शुभाशुभ कहलाता है। ये बेचारे प्रायः नपुंसक प्रवृत्ति के होते हैं। ये जिसका झण्डा ऊँचा देखते हैं, उसकी ओर लुढ़क जाते हैं, क्योंकि ये अवसरवादी प्रवृत्ति के होते हैं। इसलिए ये प्रकटरूप से अपना मत व्यक्त नहीं कर पाते। ये जहाँ लाभ देखते हैं, वहीं पहुँच जाते हैं। यदि इन्हें शुभ लोगों के निकट लाभ के दर्शन हुए, तो ये अन्ततः उनकी ओर झुक जाते हैं। किन्तु यदि इन्हें अशुभ लोगों के निकट लाभ के दर्शन हुए, तो ये अन्ततः अशुभ की ओर झुक जाते हैं। अतः ऐसे लोग किसी भी कार्य के अन्तिम परिणाम का इन्तजार करते हैं और जैसा परिणाम देखते हैं, वैसा निर्णय ले लेते हैं।*

सम्पूर्ण विश्व वास्तव में त्रिगुणमयी प्रकृति से ओत–प्रोत है। मानव भी त्रिगुणमयी प्रकृति से बच नहीं सकता। अतः इन तीनों गुणों के प्रभाव के अनुरूप भी शुभ, अशुभ, शुभाशुभ निर्णय व्यक्त होते हैं। यह भले, बुरे और मिश्रित लोगों की त्रिगुणमयी दशा होती है। इन गुणों को वैदिक शब्दावली में सात्त्विक, तामस, राजस कहा गया है। न्याय सात्त्विक है, अन्याय तामस है, न्याय–अन्याय की मिश्रित दशा राजस है।

69. दिनांक 1 जनवरी, 2011 को न्यायशील भारतवर्ष के पुनर्प्रतिष्ठा कार्यक्रम की घोषणा

*भारत का स्वरूप बदल रहा है। भारत की दशा बदल रही है। भारत की व्यवस्था बदल रही है। भारत का विधान बदल रहा है। भारत विषविधान से संविधान की ओर जा रहा है। भारत अन्याय व्यवस्था से न्याय व्यवस्था की ओर जा रहा है। भारत असत् से सत् की ओर जा रहा है। भारत अन्धकार से प्रकाश की ओर जा रहा है। भारत विनाश से विकास की ओर जा रहा है। भारत अब प्रार्थना कर रहा है–**'असतो मा सद्गमय! तमसो मा ज्योतिर्गमय! मृत्योर्माऽमृतं गमय!'***

भारत अपने चिरपुरातन और नितनूतन स्वरूप को प्राप्त होने की स्थिति में आ गया है। भारत

कलियुग के कषाय–कल्मष से निकलकर सतियुग के सौन्दर्य की ओर चल पड़ा है। भारत की यात्रा अब रुकेगी नहीं, भारत की यात्रा अब थमेगी नहीं, भारत अब दुर्गति से सद्गति की ओर उन्मुख हो चुका है। भारतीय भी अब दुर्जनता से सज्जनता की ओर उन्मुख हो रहे हैं। भारत अब दुराचार और दुर्व्यवहार को छोड़कर शीघ्र ही सदाचार और सद्व्यवहार को स्वीकार करने जा रहा है। भारत अब भ्रष्टाचार से ऊपर उठकर शिष्टाचार में प्रवेश कर रहा है। समय आ गया है। युग बदल रहा है। शीघ्र ही 1 जनवरी सन् 2011 को भारत के नये स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी और सन् 2025 तक भारत अपने पुराने सत्‌युगीन स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व सन् 2054 तक सत्‌युगीन स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएगा। तब सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हिंसा–हत्या, लूट–पाट, अपहरण–बलात्कार, भय–आतंक, संघर्ष–युद्ध, आन्दोलन–हड़ताल, जेहाद–क्रान्ति आदि समस्त प्रकार की सामाजिक समस्याओं का समापन हो जाएगा और तब यह संसार आधिदैविक अथवा प्राकृतिक समस्याओं जैसे, भूकम्प, बाढ़, ज्वालामुखी, तूफान आदि के द्वारा होने वाली भयंकर क्षतियों से भी धीरे–धीरे निवृत्त हो जाएगा। साथ ही अन्य प्रकार की आध्यात्मिक समस्याओं जैसे– आधि, व्याधि, शोक, दुःख, तनाव, अशान्ति, उद्वेग, अज्ञान, मूढ़ता, क्रूरता, द्वेष, ईर्ष्या आदि से भी धीरे–धीरे छुटकारा हो जाएगा। इसप्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार की समस्याएँ भारत सहित सम्पूर्ण विश्व से इन्हीं उपरोक्त समयों के भीतर ही समाप्त हो जाएँगी।

भारत के सर्वव्यापक स्वरूप का उदय होगा। सम्पूर्ण विश्व का जनमानस पान्चजन्य के रूप में व्यवस्थित होगा। ***'विश्व-बन्धुत्व', 'वसुधैव-कुटुम्बकम्'*** *और* ***'ब्रह्माण्ड-मण्डलम्'*** *का सत्‌घोष इसी 21वीं सदी के पूर्वार्द्ध में चरितार्थ हो जाएगा। भारतीय और विश्व जनमानस इसके लिए स्वतः सक्रिय होगा और अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोध करेगा, अपने हितों और अधिकारों के प्रति जागरुक होगा, क्योंकि भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान–विज्ञान की सम्यक् क्रान्ति का समय आ चुका है। ज्ञान–विज्ञान की विकासयात्रा अब अपने यौवन को छू रही है। अब उसके प्रकाश से यह विश्व चकाचौंध हुए बिना नहीं रहेगा। जनमानस उद्वेलित होगा, प्रबुद्ध होगा। प्रबुद्ध जनमानस कर्मकाया को क्रियाशील बनाकर ही छोड़ता है, क्योंकि आलस्य का कारण तो मूर्खता और अज्ञान ही है। ज्ञान–विज्ञान के प्रकाश में आलस्य कहाँ? सक्रियता, सचेतनता का नाम ही प्रकाश है। जो सत् है, वही चिद् है, वही आनन्द है। अब इस सच्चिदानन्द के प्रवाह को किसी भी उपाय से रोकना संभव नहीं है। युगप्रवाह अत्यन्त वेगपूर्वक बह चला है। जागो और अपनी भूमिका निभाओ! तटस्थ रहने वाले निन्दित होंगे। विरोध करने वाले विनष्ट होंगे।*

70. न्यायशील भारतवर्ष की नव नागरिकता हेतु सहमतिपत्र भेजें

भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त नागरिकों को न्यायशील भारतवर्ष की नयी नागरिकता के लिए न्यायधर्मसभा द्वारा पंचवर्षीय जनमत संग्रह अभियान संचालित किया जा रहा है, जो 31 दिसम्बर, 2010 तक निरन्तर चलता रहेगा। इन पाँच वर्षों में जो लोग भी 1 जनवरी, 2011 से नये भारतवर्ष में निवास करने के इच्छुक हों, वे चारों न्यायशील जनाधिकारों की स्वीकृति सहित अपनी सहमति निर्धारित प्रपत्र में भरकर न्यायधर्मसभा के कार्यालय में प्रस्तुत कर दें। यह जनमत संग्रह प्रपत्र न्यायधर्मसभा द्वारा निर्गमित किया गया है, जिसे इण्टरनेट पर भी प्राप्त किया जा सकता है।

उस न्यायशील नूतन भारतवर्ष में समस्त नागरिकों को समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा और समुचित संरक्षण प्राप्त होगा। समुचित शब्द का अभिप्राय समान और उचित की सन्धि से है। समता और औचित्यता का पारस्परिक व्यवहार ही न्याय कहलाता है। उस न्यायशील राष्ट्र के समस्त नागरिकों को निम्नलिखित सार्वजनिक सेवाएँ राष्ट्रीय कोष से प्रदान की जाएँगी :–

1. ***उस राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को 25 वर्ष की आयु तक निःशुल्क, अनिवार्य और अबाध शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त होगा।***
2. ***उस राष्ट्र में प्रत्येक परिवार को समुचित आजीविका (रोजगार) का साधन प्राप्त होगा; जो परिवारप्रमुख की वरीयता, अर्हता, पात्रता के अनुसार कृषिभूमि, वाणिज्यिकपूँजी, सरकारीवेतन, नेतृत्वभत्ता आदि चार संसाधनों में से कोई एक संसाधन अनिवार्यरूप से प्राप्त होगा।***

३. उस राष्ट्र में प्रत्येक ग्रामक्षेत्र को समुचित सुखसुविधा जैसे- सड़क, पानी, बिजली, डाक, संचार, क्रीड़ांगन, बाजार आदि अनिवार्यरूप से प्राप्त होंगी। ग्रामक्षेत्र की परिभाषा के अन्तर्गत 5 से 10 हजार की कोई भी जनसंख्या समाहित होगी।

४. उस राष्ट्र में समष्टि के प्रत्येक संवर्ग को समुचित संरक्षण प्राप्त होगा। जड़पदार्थ, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य सभी समुचित संरक्षण सेवाएँ प्राप्ति के अधिकारी होंगे, जिसमें चिकित्सा, सुरक्षा, न्यायालय, बीमा, बैंकिंग आदि का समावेश होगा।

उपरोक्त चारों सार्वजनिक सेवाओं को सरकार का कर्तव्य और उत्तरदायित्व माना जाएगा। राष्ट्रकोष द्वारा बजटनिर्धारण भी इन्हीं चारों सार्वजनिक सेवाओं पर समानुपातिक रूप से किया जाएगा। अर्थात् 25% शिक्षाबजट, 25% रोजगारबजट, 25% सुखसुविधाबजट, 25% संरक्षणबजट निर्धारित किया जाएगा। जितना भी वार्षिक परिव्यय उपरोक्त चारों सेवाओं पर सिद्ध होगा, उतनी ही धनराशि के लिए कराधान किया जाएगा और करसंग्रह द्वारा उतनी ही धनराशि एकत्रित की जाएगी और इस एकत्रित कोष को पूर्णतः उपरोक्त चारों सेवाओं पर ही समानुपातिक रूप से अनिवार्यतः परिव्ययित किया जाएगा।

जहाँ तक कृषिभूमि का प्रश्न है, वह शारीरिक क्षमता वालों के स्वामित्व में ही केन्द्रित रहेगी। कृषियोग्य भूमि को ही कृषिकर्म में प्रयुक्त किया जाएगा। खेती, उद्यान, पशुपालन आदि तीनों कर्म करने के लिए ही कृषियोग्य भूमि प्रशस्त मानी जाएगी। कृषकों से इस कृषिभूमि को दान, दहेज, भेंट, उपहार, विक्रय, गिरवी, बन्धक आदि किसी भी रूप में हस्तान्तरित नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि शारीरिक क्षमता वालों के द्वारा कृषि के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य किया जाना संभव नहीं होता। अतः कृषिभूमिरूपी संसाधन को उनके स्वामित्व से किसी भी रूप में अलग नहीं किया जाना चाहिए।

इसीप्रकार राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक परिवार को एक आवासीय भूखण्ड जो लगभग 2500 वर्गफुट की सीमा तक हो सकता है, वह निःशुल्क, अनिवार्य और अबाधरूप से प्रदान किया जाएगा। यह आवासीय भूखण्ड भी किसी भी रूप में अहस्तान्तरणीय होगा। यद्यपि एक भूखण्ड को उसीप्रकार के दूसरे भूखण्ड के द्वारा परस्पर विनिमय (Exchange) किया जा सकता है। इन आवासीय भूखण्डों का मूल्य भी सब प्रकार से शून्य माना जाएगा। इस आवासीय नीति के कारण उस न्यायशील भारतराष्ट्र में कोई भी परिवार बेघर नहीं रहेगा।

उस नूतन भारतराष्ट्र में किसी भी नागरिक परिवार का न्यूनतम आर्थिकस्तर प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति के आर्थिक स्तर के समकक्ष माना जाएगा। इसके लिए लोकनेतृत्व द्वारा ऐसी आर्थिकनीति अपनाई जाएगी, जो कृषक, वणिक, प्रशासक, नायक आदि किसी भी नागरिक परिवार को मासिक अथवा वार्षिक आय किसी भी स्थिति में प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति के मासिक अथवा वार्षिक आय से न्यून सिद्ध न हो।

71. न्यायशील भारतवर्ष ही सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करेगा

1 जनवरी सन् 2011 से पुनर्निर्मित होने वाला भारतराष्ट्र वास्तव में 2054 तक इतना व्यापक स्वरूप धारण कर लेगा कि वह सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करेगा, सम्पूर्ण विश्व का विधान रचेगा, सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था बनाएगा और यह सम्पूर्ण विश्व स्वतः भारत के नेतृत्व को स्वीकार करेगा, क्योंकि भारत का नेतृत्व पूर्णतः न्यायशील होगा। यह भारतराष्ट्र अन्य राष्ट्रों को गुलामी से बचाएगा। सम्पूर्ण विश्व के नागरिकों को उनके जनाधिकारों से संयुक्त करेगा। तब सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही संविधान, एक ही व्यवस्था, एक ही मुद्रा, एक ही बैंकिंग, एक ही सेना, एक ही भाषा आदि का उदय होगा।

72. आप क्या चाहते हैं, न्याय अथवा नाश?

भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त नागरिकों से यह बात स्पष्टरूप से पूछी जा रही है कि वे क्या चाहते हैं? एक ओर विकास है, दूसरी ओर विनाश। न्यायशील व्यवस्था विकास की ओर उन्मुख होती है, अन्यायशील व्यवस्था विनाश की ओर उन्मुख होती है। जो लोग विकास की आकांक्षा वाले हैं, उन्हें न्यायशील संविधान, न्यायशील सरकार, न्यायशील व्यवस्था, न्यायशील जनाधिकार और न्यायशील आचार-व्यवहार के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। अन्यथा दुर्गति और विनाश तो झेलना ही पड़ेगा। कोई भी नकारात्मक कदम सकारात्मक परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि हम मानवसमाज की मानवता

और सामाजिकता की रक्षा करना चाहते हैं, तो हमें पारस्परिक हितों–अधिकारों, कर्तव्यों–उत्तरदायित्वों में न्यायशीलता को स्वीकार करना ही होगा। परस्पर समता और औचित्यता का व्यवहार अपनाना ही होगा। समुचित व्यवहार ही न्यायशीलता है। सामाजिक दुरावस्था और विध्वंश को न्यायशीलता के द्वारा ही रोका जा सकता है। न्यायशीलता की उपेक्षा से समाज में अनेक प्रकार के भीषण संकट उपस्थित होते हैं। चारों ओर द्वेष–ईर्ष्या, युद्ध–संघर्ष, आतंक–आक्रमण, चोरी–डकैती, अपहरण–बलात्कार, दहेज–घूस, शोषण–उत्पीड़न, दलन–दमन आदि का प्रदूषित वातावरण उत्पन्न होता है। इस सामाजिक विनाशलीला को दूर करने के लिए हमें ***'न्यायं शरणं गच्छामि'*** *का उद्घोष करना होगा।*

73. न्यायशील भारतवर्ष की आवासीय व्यवस्था

भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में जहाँ कहीं भी न्यायशील व्यवस्था उत्पन्न होगी, उस राष्ट्र को न्यायशील भारतवर्ष कहना उचित होगा। ऐसे न्यायशील भारतवर्ष की आवासीय व्यवस्था निश्चय ही आदर्श होगी, जिसमें सुव्यवस्था, सुन्दरता, सुखदता, शुभता, सुविधता, सहजीविता, सहवासिता, सुरम्यता, सुस्वच्छता, सुसभ्यता, सर्वात्मकता, सार्वजनिकता, सर्वहितता के सभी लक्षण विद्यमान होंगे। इन सभी लक्षणों की अभिव्यक्ति का मूल कारण न्यायशीलता होगी। सम्पूर्ण राष्ट्र को न्यायपूर्वक औसत समुचित जनसंख्या और समुचित क्षेत्रसीमा के आधार पर ग्रामयोजना विकसित की जाएगी, जैसे– 5 से 10 हजार की जनसंख्या को एक ग्राम की संज्ञा प्रदान की जाएगी। साथ ही इतनी जनसंख्या की आवासीय और अन्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सुनिश्चित क्षेत्रीय सीमा भी निर्धारित की जाएगी। इसप्रकार प्रतिग्राम आधार पर समस्त प्रकार की सुखसुविधाओं जैसे– सड़क, पानी, बिजली आदि से युक्त आवासीय व्यवस्था बनेगी। इस ग्रामयोजना के आधार पर ही सम्पूर्ण राष्ट्र की आवासीय व्यवस्था आधारित होगी, जिससे गाँव और शहर के भेद समाप्त हो जाएँगे। यह न्यायशील ग्रामयोजना वर्तमान गाँव और शहर के बीच स्थित घनघोर वैषम्य को हटा देगी।

74. न्यायशील आवासीय ग्रामयोजना का स्वरूप

5 से 10 वर्गकिलोमीटर की सीमा में इस ग्रामयोजना को क्रियान्वित किया जा सकता है। ग्रामसीमा के मध्य में चौकोर अथवा गोलाकार आकृति में एक सर्वकारिक केन्द्र प्रतिष्ठित होगा, जिसे वर्तमान भाषा में राजधानी अथवा कैपिटल कहा जा सकता है। प्रत्येक ग्राम की इस राजधानी में चार भाग होंगे। प्रथम भाग संसदीय कार्यों के लिए, द्वितीय भाग प्रशासनिक कार्यों के लिए, तृतीय भाग वाणिज्यिक कार्यों के लिए, चतुर्थ भाग सांस्कृतिक कार्यों के लिए नियुक्त होगा। यह राजधानी धन (+) के चिन्ह के रूप में विभक्त होकर चारों सर्वकारिक केन्द्रों को विकसित करेगी। स्वस्तिक की आकृति में प्रतिष्ठित यह राजधानी ग्रामसीमा के ठीक मध्य में स्थित होगी और इस गोलाकार अथवा चौकोर आकृति के चारों ओर नागरिकों की बस्ती होगी, जिसमें समस्त नागरिकों के पारिवारिक आवास होंगे, जिसका स्वतन्त्र स्वामित्व समस्त नागरिकों के पास सुरक्षित होगा। राजधानी के चारों ओर यह आवासीय क्षेत्र होगा, जिसमें सभी के लिए एक आवासीय भूखण्ड प्रतिपरिवार आधार पर न्यूनतम 2500 वर्गफुट की समुचित सीमा तक निःशुल्क, अनिवार्य और अबाध रूप से सुलभ होगा। इस भूखण्ड का विक्रय दान आदि किसी भी रूप में हस्तांतरण नहीं होगा; परस्पर विनिमय (अदला–बदली) किया जा सकेगा, ताकि किसी को भूखण्डविहीन न रहना पड़े। इस भूखण्ड पर अपनी आर्थिक क्षमता और स्वेच्छा के अनुसार लोग आवासीय भवन का निर्माण कर सकेंगे। परिवार का अभिप्राय माता–पिता और उनके अवयस्क बच्चों से है अथवा कोई भी 5 से 10 सदस्यों का समूह भी परिवार कहलाएगा, जो साथ–साथ रहने के लिए सहमत हों। एक निर्धारित सीमा तक राजधानी के चारों ओर यह आवासीय क्षेत्र कहलाएगा और इस आवासीय क्षेत्र के पश्चात कृषिक्षेत्र माना जाएगा।

यहाँ एक बात और भी उल्लेखनीय है कि इस ग्रामयोजना के भीतर औद्योगिक क्षेत्र को सम्मिलित नहीं किया जाएगा, क्योंकि उद्योग बृहत्तर स्वरूप वाले होते हैं अतः निजी अथवा सरकारी कोई भी बृहदाकार उद्यम ग्रामयोजना से दूर कृषियोग्य भूमि से अलग वाणिज्यिक अथवा अनुपजाऊ भूमियों या जंगलों अथवा पहाड़ी या चट्टानी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित किए जाएँगे।

यह ग्रामयोजना ऐसे अनेक आवासीय ग्रामों की स्थापना करेगी, जिसमें राष्ट्र की सम्पूर्ण जनसंख्या समायोजित की जाएगी। यह ग्रामयोजना किसी भी नागरिक को यहाँ-वहाँ पड़े रहने अथवा भटकने अथवा दुःखदुविधा झेलने के लिए विवश होने से बचाएगी। राष्ट्र में कोई भी नागरिक बेघर नहीं होगा। सबको सभी प्रकार की सुविधाएँ इस ग्रामयोजना के भीतर समुचितरूप से स्वतः सुलभ होंगी। यह ग्रामयोजना धीरे-धीरे विकसित होकर भारतसहित सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात कर लेगी और वर्तमान में बसी हुई योजनाविहीन मूढ़तापूर्ण अव्यवस्थित गाँव और शहरों की नारकीय बस्तियों के दुःखों को सदा-सदा के लिए समाप्त कर देगी।

75. न्यायशीलता ही स्वतन्त्रता है

*किसी राष्ट्र के नागरिक स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र? इसका निर्धारण किसप्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में केवल एक ही बात कही जा सकती है कि जिस राष्ट्र में न्यायशील जनाधिकार प्रतिष्ठित हैं, वही स्वतन्त्र है। जिस राष्ट्र में समस्त नागरिकों को प्रतिव्यक्ति आधार पर 25 वर्ष की आयु तक समुचित शिक्षा-प्रशिक्षण सुलभ हो, जिस राष्ट्र में समस्त नागरिकों को प्रतिपरिवार आधार पर आजीविका या रोजगार के रूप में कृषिभूमि, वाणिज्यिकपूँजी, सरकारीवेतन, नेतृत्वभत्ता आदि चारों संसाधनों में से कोई भी एक संसाधन वरीयतानुसार सुलभ हों, जिस राष्ट्र में समस्त नागरिकों को प्रतिग्राम आधार पर समस्त प्रकार की सार्वजनिक सुखसुविधाएँ जैसे- सड़क, पानी, बिजली, डाक, संचार, क्रीड़ांगन आदि समुचित रूप से सुलभ हों, जिस राष्ट्र में समष्टि के चारों संवर्गों जड़पदार्थ, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि को चिकित्सा, सुरक्षा, न्यायालय, बैंकिंग, बीमा आदि के रूप में समुचित संरक्षण सुलभ हो, केवल वही राष्ट्र स्वतन्त्र है। ऐसा कोई भी राष्ट्र जो सार्वजनिक धनरूपी राष्ट्रकोष से अपने नागरिकों को न्यायपूर्वक समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा और समुचित संरक्षण प्रदान नहीं करता, बल्कि जनता से टैक्स वसूल-वसूल कर राजनैतिक वर्ग केवल निजी हितों में उसका दुर्भोग करता है। ऐसे दुर्भोगी, राजभोगी के अधीन जनजीवन कभी स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा अन्यायकारी राज्य चाहे हिन्दू के हाथ में हो, चाहे मुस्लिम के हाथ में हो, चाहे सिख के हाथ में हो, चाहे ईसाई के हाथ में हो, चाहे साधु के हाथ में हो, चाहे डाकू के हाथ में हो, वे सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे सिद्ध होते हैं। जनता का शोषण ही उनका एकसूत्रीय कार्यक्रम होता है। वे गरीबी हटाओ, भय-भूख-भ्रष्टाचार हटाओ आदि नारों का भ्रमजाल उत्पन्न कर सार्वजनिक हितों की हत्या करते हैं। महाकवि दिनकर ने ऐसी ही परिस्थिति को देखते हुए आजाद भारत की दुर्दशा पर कटाक्ष किया था-**'जब तक है वैषम्य समाज सड़ेगा। कैसे हो करके एक ये देश बढ़ेगा।।'** समान और उचित रूप से जनाधिकारों को प्रतिष्ठित किए बिना इस घनघोर विषमता को, वैषम्य को मिटाया नहीं जा सकता।*

76. अँग्रेजों या मुगलों के चले जाने से भारत की स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं होती

*भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के समय 'अँग्रेजों भारत छोड़ो' का आन्दोलन चलाया गया। अँग्रेजों ने भारत छोड़ दिया। भारतीयों ने समझा कि भारत स्वतन्त्र हो गया। खुशी मनाई गई, मिठाई बाँटी गई। अँग्रेजों के जाने के पश्चात कुछ ही वर्षों में यह बात स्पष्ट होने लगी कि गुलाम तो कोई भी बना सकता है। हिन्दू भी हिन्दू को गुलाम बना सकता है। हिन्दुस्तानी भी हिन्दुस्तानी को गुलाम बना सकता है। अमरीकी भी अमरीकी को गुलाम बना सकता है। वास्तव में जो कोई भी दुष्ट अथवा आपराधिक प्रवृत्ति का है, वह दूसरों को अवश्य ही गुलाम बनाने की चेष्टा करता है। दूसरों को दास बनाकर उनका शोषण करना ही अपराधियों का धर्म है। दुष्ट व्यक्ति स्वयं उपार्जन करना नहीं चाहता, अपहरण के द्वारा ही ऐशोआराम की जिन्दगी जीना चाहता है। दूसरों का रक्त पीकर जीवित रहने वाले परजीवी प्रवृत्ति के लोग हिन्दुओं में भी हैं, मुसलमानों में भी हैं, सिखों में भी हैं, ईसाइयों में भी हैं और ये मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशुओं में भी हैं। परपीड़क प्रवृत्ति के प्राणी इस धरती पर आसुरी प्रवृत्ति के कहे गए हैं। इन असुरों, दैत्यों, निषादों, निशाचरों, अपराधियों, दुष्टों, दुर्जनों को केवल दुराचार और दुर्व्यवहार ही सूझता है। ये सदाचार और सद्व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होते। सदाचार और सद्व्यवहार ही धर्म है। दुराचार और दुर्व्यवहार ही अधर्म है। दुर्योधन कहता है-**'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे***

निवृत्तिः।।' *अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। दुष्ट व्यक्ति अधर्म से निवृत्त नहीं हो सकता और धर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता, जब तब कि उसकी दुष्टता का निवारण न हो जाए। दूषित संस्कार ही दुष्टता की ओर प्रवृत्त करते हैं। दूषित संस्कारों को धोकर सात्त्विक संस्कारों की प्रतिष्ठा होते ही दुष्ट व्यक्ति भी शिष्ट हो जाता है। डाकू भी महर्षि वाल्मीकि हो जाता है। बुद्धि और भाव पवित्र होते ही दुर्जन व्यक्ति भी सज्जन हो जाता है। बचपन से जिस किसी को भी शुभ शिक्षा–संस्कारिता प्राप्त हो गई, वह सज्जन बन जाता है, किन्तु जिसे शुभ शिक्षा–संस्कारिता प्राप्त न हो अथवा जिसे दूषित शिक्षा–संस्कारिता प्राप्त हो, वह दुष्ट हो जाता है। अतः हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि कोई भी व्यक्ति सही शिक्षा–संस्कारिता के अभाव में ही दुष्टता को प्राप्त होकर आपराधिक कर्म में संलग्न हो जाता है। दुष्कर्म करते हुए दुर्बुद्धि और दुर्भाव से युक्त होकर अनेक प्रकार के दुराचार और दुर्व्यवहार में प्रवृत्त हो जाता है। एक शायर पाकिस्तान गया। वहाँ से लौट्कर उसने लिखा–* ***'इंसान परेशान यहाँ भी है वहाँ भी। इंसान में हैवान यहाँ भी है वहाँ भी।।'*** *हर जगह, हर देश में, हर वेश में, हर जाति में, हर मजहब में शिष्ट और दुष्ट दोनों विद्यमान हैं। आवश्यकता है इन शिष्टों और दुष्टों की पहिचान की जाए। इन सज्जनों और दुर्जनों को पहिचान कर इनकी राष्ट्रीयता को अलग किया जाए। सम्पूर्ण विश्व में ऐसा आन्दोलन 'न्यायधर्मसभा' द्वारा संचालित किया जा रहा है कि शिष्ट लोग एक तरफ हो जाएँ और दुष्ट लोग दूसरी तरफ हो जाएँ। एक ऐसा छन्ना लगाया जा रहा है, जिसमें से कचरा–कचरा छानकर बाहर कर दिया जाएगा और शुद्ध तरल पदार्थ को सुव्यवस्थित कर दिया जाएगा। इस धरती पर दो प्रकार के राष्ट्रों का गठन हो– एक शिष्टों का राष्ट्र, दूसरा दुष्टों का राष्ट्र। एक को मंगलराज और दूसरे को जंगलराज कहा जा सकता है। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के प्रायः 90% लोग इस न्यायशील शिष्टराष्ट्र की नागरिकता को स्वीकार करेंगे, सहमत होंगे; ऐसा दावा* ***'न्यायधर्मसभा'*** *द्वारा* ***'जनमत संग्रह अभियान'*** *प्रारम्भ करते समय एक पूर्वानुमान के अन्तर्गत किया गया था। किन्तु अब इस पूर्वानुमान 90% से भी अधिक जनसहमति का संकेत मिलता है, क्योंकि वर्तमान जनमत संग्रह अभियान के दौरान यह बात प्रमाणित हुई है कि प्रायः 99% लोग इस न्यायशील राष्ट्र की स्थापना और उसकी नागरिकता के लिए सहमत हैं, जिसमें चारों जनाधिकार समुचित रुप से समस्त नागरिकों को प्रदान किए जाने हैं। केवल 1% से भी कम लोगों ने ही राष्ट्र या समाज में न्यायशीलता को अस्वीकार किया है। भारत में यह जनमत संग्रह अभियान 5 वर्ष तक निरन्तर चलता रहेगा और 31 दिसम्बर, 2010 तक जितने भी लोग ऐसे न्यायशील राष्ट्र के निर्माण करने हेतु चारों न्यायशील जनाधिकारों के लिए अपनी सहमति प्रदान कर देंगे, उन सभी को उस नूतन भारतवर्ष की नागरिकता स्वतः प्राप्त हो जाएगी। किन्तु जो लोग इन चारों न्यायशील जनाधिकारों से असहमत सिद्ध होंगे और न्यायशील राष्ट्र के निर्माण हेतु सहयोग प्रदान करने से कतराएँगे, उन्हें उस दूसरे राष्ट्र की नागरिकता स्वतः प्राप्त हो जाएगी। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व के वर्तमान 300 से भी अधिक राष्ट्रों को मिलाकर केवल दो राष्ट्र प्रतिष्ठित किये जाएँगे, जिनमें से एक 'न्यायशील भारतवर्ष' के नाम से जाना जाएगा और दूसरा अन्यायशील आरतवर्ष के नाम से जाना जाएगा। दूसरे शब्दों में इन्हीं दोनों राष्ट्रों को स्वर्गतुल्य और नर्कतुल्य कहा जा सकता है। इन्हें ही आर्यावर्त और अनार्यावर्त के नाम से जाना जाएगा। न्यायकारी सज्जनों को ही मानव कहते हैं। अन्यायकारी दुर्जनों को ही दानव कहते हैं। इन दानवों को ही दैत्य, असुर, निषाद, निशाचर, भंगी, अन्त्यज, अनार्य, म्लेच्छ आदि अनेक प्रकार के अलंकारों अथवा उपाधियों से विभूषित किया जाएगा। सन् 2011 से न्यायशील राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी और 2054 तक क्रमशः सम्पूर्ण विश्व का परिशोधन हो जाएगा। धरती पर स्वर्ग और नर्क दोनों अलग–अलग प्रतिष्ठित हो जाएँगे। धरती पर मंगलराज और जंगलराज दोनों अलग–अलग प्रतिष्ठित हो जाएँगे। 90% से भी अधिक जनसंख्या मंगलराज में प्रतिष्ठित होगी और शेष जनसंख्या जंगलराज में प्रतिष्ठित होगी। दुष्टों, अन्यायियों को समाज से भंग करके भंगी बनाना ही होगा। मानवसमाज में रहने का अधिकार उसी को है, जो सबके समुचित हितों को स्वीकार करता है। समता के बिना सामाजिकता का जन्म ही नहीं हो सकता। मानवता और सामाजिकता न्याय के बिना सुरक्षित नहीं रह सकती।*

77. सन् 2011 से 2025 के बीच भारत में सत्युगीन परिस्थितियों का उदय अवश्यंभावी

वर्तमान समय में भारत के नाम से विख्यात क्षेत्रसीमा आने वाले समय में शीघ्र ही स्वर्गतुल्य सत्युगीन वातावरण में प्रतिष्ठित हो जाएगी। सन् 2011 से 2025 के बीच की 15 वर्षीय अवधि सम्पूर्ण भारत को समुन्नत, समृद्ध, सुसंस्कृत, सुसभ्य एवं स्वस्थ बनाकर रख देगी। भारत के उत्थान को अब किसी भी प्रकार से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। इसके लिए समुचित पृष्ठभूमि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तलों पर निर्मित हो चुकी है। भारत में शीघ्र ही नये युग का सूत्रपात होने जा रहा है। भारत अब अपनी सीमारेखाओं को भी खोल देगा और एक-एक करके कई राष्ट्र स्वेच्छापूर्वक भारत के साथ मिलते जाएँगे। धीरे-धीरे विशाल भारतवर्ष का स्वरूप पुनः प्रकट होगा। आस-पास के सभी देश धीरे-धीरे भारतवर्ष की न्यायशील व्यवस्था को ही अंगीकार करेंगे। भारत एक न्यायराष्ट्र अथवा धर्मराष्ट्र के रूप में अभ्युदित होगा। सत्य, प्रेम, न्याय, पुण्य रुपी चतुष्पात् सनातन धर्म पुनः प्रतिष्ठित होगा, जो दुनिया के समस्त धर्मों को आत्मसात कर लेगा। विश्व के सभी धर्म, सम्प्रदाय स्वेच्छापूर्वक उसे स्वीकार कर लेंगे। वर्तमान विश्व में प्रचलित लगभग 7000 भाषाएँ भी समाप्त होकर केवल कुछ विज्ञानसम्मत भाषाएँ ही शेष रह जाएगी। उनमें भी एक मूल भाषा की ही प्रधानता होगी। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व 21वीं सदी के प्रथम 50 वर्षों में ही महान सुखशान्ति को प्राप्त होगा, महान समृद्धि प्रकट होगी, महान संस्कृति का उदय होगा, महान सभ्यता प्रतिष्ठित होगी, आध्यात्मिक जीवन के चारों आयामों का विकास होगा। क्रिया, विचार, भाव, चेतना का सुविकसित स्वरूप प्रकट होगा। स्वस्थ तन, स्वस्थ मन, स्वस्थ प्राण, स्वस्थ आत्मा प्रकट होगी। विश्व की सम्पूर्ण जीवनधारा सुरम्य होगी। भारत उठ रहा है। सुषुप्ति से जाग्रति की ओर, जड़ता से चैतन्यता की ओर, असत् से सत् की ओर, तम् से ज्योति की ओर, विनाश से विकास की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर घृणा से प्रेम की ओर, अन्याय से न्याय की ओर, पाप से पुण्य की ओर भारत की यात्रा चल पड़ी है। यह भारत ही अपने स्वर्णिम लक्ष्य तक पहुँचकर सम्पूर्ण विश्व को स्वर्णिम जीवन प्रदान करेगा।

78. क्या पूर्वकाल में भी धरती पर कभी न्यायशीलता थी?

पूर्वकाल में भारतवर्ष नाम से जिस समाजव्यवस्था की स्थापना हुई थी, उसने धरती को सुखशान्ति से युक्त स्वर्गतुल्य जीवन प्रदान किया था। तब न कोई राज्य था, न कोई राजा था, न कोई दण्डविधान था, न कोई दण्डदाता था। बल्कि सम्पूर्ण जनता के पारस्परिक हित न्यायधर्म के द्वारा ही सुरक्षित होते थे। भारत के प्राचीन शास्त्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है– ***'न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न न च दण्डो न दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजा सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम्।।'*** *मानवसमाज में सभी बालकों के लिए 25 वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण शिक्षा-प्रशिक्षण निःशुल्क अनिवार्य और अबाधरूप से प्रदान की जाती थी, जिसके परिव्यय की प्रतिपूर्ति सार्वजनिक धन से की जाती थी। सार्वजनिक धनकोष पारस्परिक करसंग्रह के द्वारा एकत्रित होता था। इसके पश्चात युवावस्था में प्रवेश करते ही गार्हस्थ आश्रम का अधिकारी होकर कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, नेतृत्व आदि चारों कर्मों में से कोई भी एक कर्म का अधिकार उसके गृहपरिवार के जीवननिर्वाह हेतु आजीविका या रोजगार के रूप में प्राप्त होता था। इन चारों कर्मों का विभाजन वरीयताक्रम के अनुसार होता था। वरीयताक्रम का निर्धारण गुणवत्ता, योग्यता, क्षमता, कौशल के आधार पर होता था। इस वरीयता, अर्हता, पात्रता के अनुरूप व्यक्ति को कृषिभूमि, वाणिज्यिकपूँजी, सरकारीवेतन, नेतृत्वभत्ता आदि के रूप में प्रतिपरिवार एक संसाधन अनिवार्य, निःशुल्क एवं अबाध रूप से प्राप्त होता था। इन चारों कर्मों के साथ क्रमशः कृषिकसम्पदा, वाणिज्यिकसम्पदा, प्रशासनिकसम्पदा एवं दैविक सम्पदा का स्वामित्व भी तदनुसार प्राप्त हो जाता था। कृषक, वणिक, प्रशासक, नायक आदि के नाम से प्रसिद्ध चारों पद ही तब वर्णव्यवस्था के नाम से विख्यात थे। इन चारों पदों पर वरीयताक्रम से नियुक्ति होने के कारण ही इस न्यायशील व्यवस्था को वर्णव्यवस्था कहा गया था, कालान्तर में यह वर्णव्यवस्था विलुप्त हो गई और जातिव्यवस्था ने अपनी जड़ें जमा लीं और मानवसमाज में पुनः जंगलराज प्रतिष्ठित हो गया। लोग जाति, वंश, कुल, गोत्र आदि के आधार पर ही समस्त पदों पर अपना कब्जा जमाने लगे। फिर उनमें भी मारामारी मची और छल-बल-दल आदि के आधार पर पदों को हथियाने का कार्यक्रम चल पड़ा। चारों ओर खींचतान, लूटपाट, हिंसा-हत्या, भय-आतंक, हड़ताल-आन्दोलन के दौर चल पड़े। वर्तमान मानवसमाज*

अपनी मानवता और सामाजिकता पूर्णतः खो बैठा। सर्वत्र जंगली वातावरण उत्पन्न हो गया। मानवता नष्ट हो गई, पशुता प्रकट हो गई। आवश्यकता है कि न्यायधर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया जाए, न्यायशील समाजव्यवस्था पुनः स्थापित की जाए, न्यायशील संविधान का पुनः निर्माण किया जाए। ताकि समाज में सभी लोगों के समुचित हितों का निर्धारण और संरक्षण हो सके। व्यक्ति को समुचित शिक्षा, परिवार को समुचित रोजगार, क्षेत्र को समुचित सुखसुविधाएँ और सृष्टि को समुचित संरक्षण प्राप्त हो सके। ऐसी न्यायशील समाजव्यवस्था की स्थापना में ही सम्पूर्ण लोकजीवन का कल्याण है।

79. न्यायधर्मसभा को विशाल जनसमर्थन

न्यायधर्मसभा द्वारा संचालित न्यायस्थापना अभियान को विशाल संख्या में जनसमर्थन प्राप्त हो रहा है, जिससे सिद्ध होता है कि जनता को न्याय की कितनी गहरी प्यास है। वर्तमान अन्यायकारी राष्ट्रीय व्यवस्था से भारतसहित सम्पूर्ण विश्व की जनता पूरी तरह से त्रस्त हो चुकी है। अन्याय और अनीति की राजनैतिक दुष्टता ने जनमानस को झिंझोड़कर रख दिया है। लोग संत्रस्त होकर इस अनैतिकता को, अनौचित्य को, वैषम्य को, अन्याय को अतिशीघ्र दूर कर देना चाहते हैं। न्यायधर्मसभा द्वारा भारत में जनमत संग्रह हेतु पंचवर्षीय अभियान संचालित किया जा रहा है, जिसमें न्यायशीलता को प्रतिष्ठित करने के लिए चारों जनाधिकारों के निर्धारण और उसके लिए सरकार के उत्तरदायित्व और कर्तव्य के निर्धारण हेतु सहमति पत्र और सहयोग पत्र जारी किया गया है। इस विशुद्ध लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के द्वारा लोकमत के एकत्रीकरण का यह पंचवर्षीय अभियान भारत में 1 जनवरी, 2006 से 31 दिसम्बर, 2010 तक निरन्तर जारी रहेगा। विगत छह महीनों में भारत के अनेक प्रान्तों से भारी संख्या में जनता की सहमति एवं सहयोग के लिए निर्धारित प्रपत्र में हस्ताक्षरित समर्थन प्राप्त हुआ है। आशा की जाती है कि सम्पूर्ण भारतराष्ट्र से आने वाले शेष साढ़े चार वर्षों में न्यायधर्मसभा के न्यायस्थापना अभियान को भारी संख्या में जनसमर्थन प्राप्त हो जाएगा। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि सभी वर्गों के लोग इस न्यायस्थापना अभियान से पूर्णतः सहमत हो रहे हैं। सभी वर्गों के सन्त, महात्मा, पादरी, पुरोहित, लामा, इमाम, धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, राजनीतिज्ञ, डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, कवि, लेखक, साहित्यकार, व्यापारी, उद्योगपति, व्यवसायी, कृषक, मजदूर, कर्मचारी, विद्यार्थी, अधिकारी, शासक, प्रशासक, नेता, समाजसेवी चाहे वे व्यक्ति हों, संस्था हों, संगठन हों, संघ हों, कमेटी हों, स्त्री हों, पुरुष हों, सभी न्यायधर्मसभा के इस न्यायस्थापना के सर्वकल्याणकारी, लोकहितकारी, सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय के उद्देश्य से ओत-प्रोत अभियान से बड़े हर्ष और खुशी के साथ अपना सुहृद समर्थन व्यक्त कर रहे हैं, वह भी लिखित में। बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सन्त, महात्मा, पीठाधीश्वर, महामण्डलेश्वर भी इस अभियान की पीठ ठोक रहे हैं, आशीर्वाद दे रहे हैं। न्यायधर्मसभा का यह अद्भुत अभियान सचमुच ***'विश्व-बन्धुत्व'*** *और* ***'वसुधैव-कुटुम्बकम्'*** *को स्पष्टरूप से चरितार्थ करता हुआ प्रतीत हो रहा है, क्योंकि न्याय के मुद्दे पर वे सभी आज एकमत और सहमत और सहयोगी सिद्ध हो रहे हैं, जो विगत हजारों वर्षों से एक-दूसरे को परस्पर शत्रु की भाँति देखते थे और पूर्णतः परस्पर विरोधी विचारधारा वाले बने बैठे थे। अब वे न्याय के मुद्दे पर एक हो रहे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि* ***'न्याय सर्वप्रिय वस्तु है।'*** *वास्तव में न्याय ऐसी चीज है, जो सबको प्रिय लगती है। सबको अपने समुचित हित प्रिय होते ही हैं और सबके समुचित हितों का निर्धारण और संवितरण ही न्याय है। वस्तुतः दुनिया में जितने भी संघर्ष हुए हैं, उनके पीछे कहीं न कहीं अन्याय ही मूल कारण रहा है। अब जनता में जागरूकता आयी है, अतः* ***'न्यायं शरणं गच्छामि'*** *का उद्घोष अब होकर ही रहेगा। मानवसमाज न्याय के बिना अपनी मानवता और सामाजिकता सुरक्षित नहीं रख सकता।*

८०. सबको न्याय मिले! कोई तिरस्कृत न हो!

''आज सबसे बड़ी समस्या इस राष्ट्र में गरीबी की है। मेरा प्रयास रहेगा कि सबको न्याय मिले। जो पिछड़ गए हैं, उन्हें रोजगार के अवसर मिलें। जो सदियों से तिरस्कृत रहे हैं, उनका कल्याण हमारा लक्ष्य बने।''

-(लालबहादुरशास्त्री : प्रधानमन्त्री के रूप में प्रथम भाषण, 9/6/1964)

वर्तमान राष्ट्रीय दुर्व्यवस्था में किंचित भी कोई सत्यनिष्ठ व्यक्ति हुआ, तो उसने राष्ट्र में न्यायशील नेतृत्व की थोड़ी बहुत बातें अवश्य की हैं। जनता की पीड़ा को अनुभव करने वाले कुछ नेतागण स्वतन्त्र भारत में अवश्य हुए हैं, जिनमें न्यायशीलता की कुछ झलक यदा-कदा दिखाई पड़ जाती है। गरीबी वास्तव में एक राजनैतिक कुचक्र है, क्योंकि वर्तमान व्यवस्था में जो अधिक परिश्रमी है, वही गरीब दिखाई पड़ता है और जो कामचोर है अथवा कम परिश्रम करता है, वह अमीर दिखाई पड़ता है। यदि कोई आलसी व्यक्ति गरीब है तब तो यह उसका व्यक्तिगत दोष कहा जा सकता है किन्तु जब कोई परिश्रमी व्यक्ति गरीब हो, निर्धन हो, दरिद्र हो तब यह व्यवस्थागत दोष स्वतः सिद्ध होता है। राष्ट्रीय व्यवस्था की दूषित आर्थिक नीति ही परिश्रमी जनसाधारण की गरीबी का मूल कारण है। अतः गरीबी के निवारण का एक ही उपाय है- न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रतिष्ठा।

८१. अन्यायकारी षड्यन्त्रों की देन है गरीबी

''गरीबी मानवाधिकारों का उल्लंघन है। केवल आर्थिक आय ही गरीबी का कारण नहीं है। मानवाधिकार की दृष्टि से गरीबी को हम मूलभूत मानवाधिकारों की उपेक्षा अथवा उल्लंघन के रूप में परिभाषित करते हैं।''

-(अर्जुन के.सेनगुप्ता : मानवाधिकारविशेषज्ञ, राज्यसभासदस्य, दि हिन्दू, 18/11/05)

गरीबी का मूल कारण आर्थिक अन्याय है। राष्ट्रीय व्यवस्था में आर्थिक नीति दूषित होने के परिणामस्वरूप ही गरीबी का जन्म होता है। संसाधनों का समुचित वितरण नहीं होना और श्रम का समुचित मूल्यांकन नहीं होना आदि दूषित आर्थिक नीति के परिणाम हैं। यह आर्थिक दुर्नीति ही आर्थिक दुरावस्था की जननी है। गुण, धन, सुख और स्वस्ति की प्राप्ति मानव का मूलभूत अधिकार है। इस मूलभूत मानवाधिकार का उल्लंघन ही जनता की दुर्गति का द्वार खोलता है, क्योंकि ये चारों मूलभूत मानवाधिकार अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय व्यवस्था की मुठ्ठी में होते हैं। राष्ट्रीय व्यवस्था ही शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण प्रदान करने वाली सार्वजनिक संस्था कहलाती है। शिक्षा के बिना गुण, रोजगार के बिना धन, सुविधा के बिना सुख, संरक्षण के बिना स्वस्ति संभव नहीं है। अतः गरीबी के उन्मूलन हेतु जनता में गरीबी की दशा को उत्पन्न करने वाली अन्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था को न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना आवश्यक है।

८२. न्याय करो अन्यथा नष्ट हो जाओगे!

''कोई भी व्यवस्था तब तक ही स्वयं को जीवित रख सकती है, जब तक वह बदलते समय और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप यह साबित न कर दे कि इसमें आम आदमी की जरूरतों को पूरा करने की इच्छाशक्ति है। वह देश जहाँ राष्ट्र का एक बहुसंख्यक वर्ग दाने-दाने को तरस रहा हो, जहाँ वह महज जीने के लिए सारी ऊर्जा से जूझ रहा हो, वैसा वर्ग कुछ नेताओं के विलासितापूर्ण जीवन को कैसे बर्दाश्त कर सकता है। ऐसे में कोई भी पार्टी या संविधान जब तक साधारण आदमी की जरूरतें नहीं पूरी करेंगे, समय का अन्तराल उनके अस्तित्व को स्वयं समाप्त कर देगा।'' -(इन्दिरागाँधी : प्रधानमन्त्री; 28 अक्टूबर, 1975, कॉमनवेल्थ सांसदों के समक्ष दिल्ली में दिये गये भाषण का अंश)

पापी को भी पाप करते हुए अपनी पापिष्ठता का बोध रहता है। अन्यायी को भी अन्याय करते हुए अपनी अनैतिकता का बोध रहता है। यह बात उपरोक्त उदाहरण से समझी जा सकती है। स्वतन्त्र भारत में परतन्त्रता को जन्म देने वाले राजनैतिक दलों के प्रमुखों ने भी यदा-कदा इस तथ्य को अनुभव किया है कि न्यायशीलता के बिना समाज अथवा राष्ट्र में किसी का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता।

अन्याय अन्तिम रूप से सर्वनाश की ओर ले जाता है। अतः भारत सहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त राजनेताओं को आगाह किया जाता है कि वे अपने अन्यायविधान, अन्यायी नीति और अन्यायी नियम–कानून का परित्याग करके न्यायविधान, न्यायनीति, न्यायनियम का आधार ग्रहण करें। अन्यथा समय का अन्तराल इनके अस्तित्व को स्वयं समाप्त कर देगा।

83. न्यायशील संविधान के निर्माण की आवश्यकता

''यह संसदीय लोकतन्त्र और संविधान समय के अन्तराल में औंधे मुँह जा गिरा है। अतः न तो आज कोई राजनीतिक पार्टी ही ऐसी है, जो जनता की भलाई की सोच सके और न ही यह संविधान इतना प्रभावशाली है कि वह ऐसा करवा सके। कब तक यह खेल चलता रहेगा? क्या हमारे पास इतनी भी अक्ल नहीं कि इसका निदान हम खोज सकें? इस बिन्दु पर हम संविधान को संशोधित क्यों नहीं करते? क्या हमारा आचरण विक्षिप्तों जैसा आचरण नहीं है? क्या हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के पागल हैं? इस प्रश्न का किसी के पास कोई जबाव नहीं। सब लोग स्वार्थ में अन्धे हैं और जनता तटस्थ है। भारत के वे लोग जिन्होंने प्रजातान्त्रिक प्रणाली के प्रचलित ढंग को अपने स्वार्थ के लिए देश को लूटने का पर्याय बना दिया है, उनके षड़यन्त्रों को विफल करना होगा। यह वक्त की पुकार है। मूल ढाँचे सहित अगर संविधान न बदला गया, तो दीमकों के कारण यह राष्ट्र तबाह हो जाएगा।'' -(अश्विनीकुमार, प्रधानसम्पादक; पंजाबकेसरी, दिल्ली, 06/09/05)

संसद, लोकतन्त्र, संविधान आदि शब्द बहुत प्यारे हैं, किन्तु धूर्त रक्तपिपासु राजनीतिज्ञों ने इन महान शब्दों की गरिमा, महिमा और सार्थकता को नष्ट कर डाला है। इन अच्छे शब्दों की आड़ में राज्य के भूखे भेड़ियों ने जनता के साथ निरन्तर छल, कपट, धोखा और षड़यन्त्र किया है। धूर्तों ने एकाकीरूप से भी और संगठितरूप से भी झूठ–कपट, छल–छद्‌म अथवा दल–बल के द्वारा सार्वजनिक धन रूपी राष्ट्रकोष को येन–केन–प्रकारेण विगत हजारों वर्षों से अपने अधीन कर रखा है। उस सार्वजनिक धन का न्यायपूर्वक समुचित वितरण अभी तक नहीं हो सका है। व्यक्ति अशिक्षित है, परिवार बेरोजगार है, ग्राम असुविधाग्रस्त है, प्रकृति असुरक्षित है, प्रदूषित है। शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण प्रदान करने सम्बन्धी चारों सार्वजनिक सेवाएँ विध्वस्त हैं। जनसमाज कुण्ठित और दुःखी हो रहा है। तुरन्त आवश्यकता है कि संसद, लोकतन्त्र, संविधान, न्यायालय आदि शब्दों की सार्थकता को प्रतिष्ठित किया जाए, उनकी गरिमा और महिमा को नष्ट होने से बचाया जाए।

84. आर्थिक न्याय ही प्रथम न्याय है

''अगर इस सबके साथ-साथ आर्थिक समानता का प्रचार न किया गया, तो यह सब निकम्मा समझना चाहिए। आर्थिक समानता का यह अर्थ हरगिज नहीं है कि हर एक के पास धन की समान राशि होगी। मगर यह अर्थ जरूर है कि हर एक के पास ऐसा घर-बार, वस्त्र और खाने-पीने का सामान होगा कि जिससे वह सुख से रह सके। और जो घातक असमानता आज मौजूद है, वह केवल अहिंसक उपायों से ही नष्ट होगी।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

अमीरों अथवा धनवानों को न्यायस्थापना अभियान से घबराने की जरूरत नहीं है। न्याय व्यवस्था का यह अभियान किसी से कुछ छीनने–झपटने के लिए नहीं बल्कि उन्हें समुचित संरक्षण प्रदान करने के लिए है, क्योंकि अन्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था में अमीरों, धनवानों, समृद्धजनों को गरीबों, निर्धनों, विपन्नजनों द्वारा लुटने, पिटने, मारे जाने आदि का खतरा विद्यमान रहता है। किन्तु न्यायशील व्यवस्था में गरीबों, निर्धनों, विपन्नजनों को भी समुचित धनोपार्जन के अवसर प्राप्त होते हैं, जिससे उनकी गरीबी, निर्धनता और विपन्नता स्वतः समाप्त हो जाती है। अतः वे लूट–मार, छीन–झपट, हड़ताल–आन्दोलन, अनैतिकता–अन्याय, क्रान्ति–संघर्ष आदि का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित नहीं होते। न्यायशील व्यवस्था में धन नहीं संसाधनों के वितरण की बात कही जाती है। धनवानों का धन छीनने की कोई आवश्यकता नहीं होती। धन तो परिश्रमपूर्वक उपार्जन का परिणाम है। संसाधन परिश्रमपूर्वक धनोपार्जन के अवसर का नाम है। अतः न्यायशील व्यवस्था में कोई गरीब, निर्धन, विपन्न नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण जनजीवन समुचित रूप से समृद्ध होता है।

85. सच्ची अर्थनीति ही मौलिक न्यायनीति है

''मेरी राय में न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की, अर्थरचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में हर एक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने की जरूरतें पूरी कर सके। और यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है, जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे हर एक को बिना किसी बाधा के उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए जिस तरह कि भगवान की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध है। किसी भी हालत में दूसरों के शोषण के लिए चलाए जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देश में, बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी, जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है। मैं अर्थविद्या और नीतिविद्या में कोई भेद नहीं करता। जिस अर्थविद्या से व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को हानि पहुँचती हो, उसे मैं अनीतिमय और पापपूर्ण कहूँगा। जो अर्थविद्या किसी देश को किसी दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देती है, वह अनैतिक है। जो मजदूरों को योग्य मेहनताना नहीं देते और उनके परिश्रम का शोषण करते हैं, उनसे वस्तुएँ खरीदना या उन वस्तुओं का उपयोग करना पापपूर्ण है।'' -(महात्मा गाँधी, ग्रन्थ : मेरे सपनों का भारत)

शारीरिक क्षमता तक सीमित अथवा अल्पबुद्धि वाले लोगों का शोषण धूर्तजनों द्वारा तब और भी अधिक आसानी के साथ किया जाना संभव हो जाता है, जबकि उनके लिए उनकी योग्यतानुसार संसाधनों पर समुचित स्वामित्व सुलभ न हो। संसाधनों पर समुचित स्वामित्व के अभाव में वे साधारण लोग धूर्तों द्वारा दास की भाँति प्रयुक्त किये जाते हैं। कृषिभूमि अथवा वाणिज्यिक पूँजी समुचित मात्रा में सुलभ कराकर उन साधारण जनों को धूर्तों की दासता से बचाया जा सकता है। अतः संसाधनों पर समुचित स्वामित्व के सिद्धान्त को ही न्यायोचित कहा जा सकता है।

86. न्याय का विरोधी बर्बाद हो जाएगा

''जो लोग खुदा की आयतों को नहीं मानते और नबियों (ऋषियों) को नाहक (अन्यायपूर्वक) कत्ल करते हैं। और जो इंसाफ (न्याय) करने का हुक्म देते हैं, उन्हें भी मार डालते हैं, उनको दुःख देने वाले अजाब की खुशखबरी सुना दो। ये ऐसे लोग हैं जिनके अमाल दुनिया और आखिरत दोनों में बर्बाद हैं।'' -(कुरआनमजीद, 1:3:21)

अपने लिए तो सभी को न्याय बहुत प्रिय है। संसार में कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि उसके साथ अन्याय हो, किन्तु सच्चे इंसान वे हैं, जो अपने साथ-साथ दूसरों के लिए भी न्याय अथवा इंसाफ की इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो दूसरों के साथ इंसाफ नहीं चाहता, वह इहलोक और परलोक सर्वत्र ही दुर्दशा को प्राप्त होता है। इस्लाम कहता है कि इंसाफ (न्याय) का विरोधी बर्बादी के रास्ते पर है।

87. अल्लाह इंसाफ करने वालों का दोस्त है

''और अगर फैसला करना चाहो तो इंसाफ (न्याय) का फैसला करना कि खुदा इंसाफ (न्याय) करने वालों को दोस्त रखता है।'' -(कुरआनमजीद, 2:5:42)

जो न्यायशील इंसान है, वही ईश्वर के मित्र हैं, वही खुदा के दोस्त हैं। किन्तु जो अन्यायशील लोग हैं, वही शैतान के दोस्त हैं। निश्चय ही यह कितनी बुरी बात है कि कोई व्यक्ति ऐसी दुष्प्रवृत्ति वाला हो कि वह दूसरों के लिए शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण की समुचित सुलभता को अमान्य करे।

88. न्याय ही खुदा का हुक्म है

''खुदा तुमको इंसाफ (न्याय) और एहसान (पुण्य) करने और रिश्तेदारों को सहयोग देने का हुक्म देता है और बेहयाई और नामाकूल कामों से और सरकशी (हत्या) से मना करता है

और तुम्हें नसीहत (सलाह) देता है कि तुम याद रखो।'' -(कुरआनमजीद, 3:26:90)

परमेश्वर न्यायप्रिय है। न्याय ही ईश्वर का आदेश है। समाज या राष्ट्र में न्याय के बिना शैतानियत का साम्राज्य ही सिद्ध होता है। इंसाफ को छोड़कर इंसानियत की कल्पना नहीं की जा सकती। न्याय के बिना मानवता सिद्ध नहीं होती। अन्याय का साम्राज्य तो पशुता का साम्राज्य है।

89. खुदा को इंसाफ प्रिय है

''एक फरीक (पक्ष) दूसरे पर ज्यादती करे तो ज्यादती करने वाले से लड़ो। दोनों फरीक (पक्षों) में बराबरी के साथ सुलह करा दो। और इंसाफ से काम लो कि खुदा इंसाफ (न्याय) करने वालों को पसंद करता है।'' -(कुरआनमजीद, 6:49:9)

बराबरी का दर्जा ही इंसाफ है। समानता का व्यवहार ही न्याय है। इस न्यायशीलता अथवा इंसाफियत के बिना ईश्वर को प्रसन्न नहीं किया जा सकता, चाहे कितनी भी नमाज, पूजा, प्रार्थना, कीर्तन, आरती आदि का पाखण्ड किया जाए। सब व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योंकि इंसाफ ही खुदा को पसन्द है, न्याय ही परमेश्वर को प्रिय है।

90. सब कुछ सबका है, सब अल्लाह के बन्दे हैं

''जो कुछ आसमानों में है और जो कुछ जमीन में है और जो कुछ इन दोनों के बीच में है और जो कुछ मिट्टी के नीचे है, सब उसी का है। और अगर तुम पुकार कर बात कहो तो वह तो छिपे भेद और बहुत छिपी बात तक को जानता है। (वही) माबूद है उसके सिवा कोई माबूद (आधार या अस्तित्व) नहीं है।'' -(कुरआनमजीद, 4:20:6-8)

संसार में सबकुछ एक ही ईश्वर की मिल्कियत है। सभी प्राणी उस एक ही ईश्वर की रचना हैं। वह एक ही सबका आधार है। खुदा, अल्लाह, परमेश्वर, परब्रह्म, गॉड, यहोवा, आत्मा, परमात्मा आदि अनेक नामों से उसे ही पुकारा जाता है। अतः उसकी सृष्टि में प्रत्येक को सभी वस्तुओं पर समुचित अधिकार स्वतः सिद्ध है। यह सच्ची बात ही न्याय की धुरी है। इस छोटी सी बात को भुलाकर दूसरी अनेक प्रकार की बातें बनाना और मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च आदि का पाखण्ड करना अन्याय और अनीति की प्रवृत्ति का संकेत करती है।

91. परमेश्वरीय राज्य में अन्यायियों का प्रवेश नहीं

''क्या तुम नहीं जानते कि पवित्र लोग जगत का न्याय करेंगे? सो जब तुम्हें जगत का न्याय करना है, तो क्या तुम छोटे से छोटे झगड़ों का भी निर्णय करने के योग्य नहीं? क्या तुम नहीं जानते कि हम स्वर्गदूतों का न्याय करेंगे? तो क्या सांसारिक बातों का निर्णय न करें?' (6:2-3) 'परन्तु सचमुच तुममें बड़ा दोष तो यह है, कि आपस में मुकद्दमा करते हो। अन्याय करते और हानि पहुँचाते हो, और वह भी भाइयों को। क्या तुम नहीं जानते, कि अन्यायी लोग परमेश्वर के राज्य के वारिस न होंगे? (6:7:8)।'' -(बाइबिल, नयानियम, 1-कुरिन्थियों)

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि सभी प्रकार के व्यक्ति इस विश्वभूतल पर घोर अन्याय करते और सहते चले आ रहे हैं। धूर्तों और मूर्खों के अद्भुत संयोग का वातावरण विगत कई हजार वर्षों से निरन्तर बना हुआ है। इनमें से 5% धूर्त 95% मूर्खों की विशाल भीड़ को अन्यायपूर्वक पशुओं की भाँति हाँक रहे हैं। अतः धरती पर अभी तक परमेश्वरीय राज्य अर्थात् न्याय का राज्य स्थापित नहीं हो सका है। शोषकों और शोषितों की इस दुनिया को पोषकों और पोषितों की दुनिया में बदलने के लिए सम्पूर्ण न्यायधर्म स्थापित करने की महती आवश्यकता है।

न्याय का राज्य ही परमेश्वर का राज्य है। जो परमेश्वर का पुत्र है, अनुयायी है, भक्त है, वह न्याय के राज्य में रहता है। किन्तु जो शैतान का पुत्र है, अनुयायी है, भक्त है, वह अन्याय के राज्य में रहता है। परमेश्वर सत्य है। सत्य न्याय का सन्देश देता है। सबके समुचित अधिकारों और कर्तव्यों

का निर्धारण ही न्याय है, यह बात सर्वविदित है। किन्तु वाह रे कमीनापन! हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई सबको इस कमीनेपन ने दबोच लिया है और सभी इस सर्वविदित न्याय को नष्ट करने वाले दुष्ट और पापी ठहर रहे हैं। आवश्यकता है कि इस धरती पर न्याय के हत्यारों की खोज हो और उन्हें छाँटकर इस मानवसमाज से भंग किया जाए।

92. यीशु भी न्याय के लिए उत्पन्न हुआ

''तब यीशु ने कहा कि मैं इस जगत् में न्याय के लिए आया हूँ।'' -(बाइबिल, नयानियम, यूहन्ना, 9:39)

प्रत्येक महापुरुष न्याय का पक्षधर है, चाहे वह जीसस, मुहम्मद, कृष्ण, राम, कबीर, नानक, बुद्ध, महावीर आदि कोई भी हों, सभी ने एक ही स्वर से स्वयं को न्यायधर्म की स्थापना के लिए अवतरित बताया। न्यायधर्म ही मानवसमाज का सनातन धर्म है। न्याय के बिना मानवता और सामाजिकता दोनों ही नष्ट हो जाती हैं। राष्ट्र की राष्ट्रीयता न्याय के बिना सुरक्षित नहीं रह सकती। गाँधी, अम्बेडकर, विवेकानन्द, दयानन्द, सुभाष आदि सभी महानुभावों ने न्याय की स्थापना के लिए ही अपना सर्वस्व कुर्बान किया है। न्याय व्यवस्था स्थापित होने तक यह क्रम निरन्तर जारी रहेगा। वैसे न्याय की घड़ी अब निकट खड़ी है।

जो परमेश्वर का पुत्र है, अनुयायी है, भक्त है, वह न्याय के लिए आता है। किन्तु जो शैतान का पुत्र है, अनुयायी है, भक्त है, वह अन्याय के लिए आता है। ईसामसीह संसार में न्याय के लिए आया किन्तु ईसाइयों ने अन्याय किया। विगत 2000 वर्षों से ये ईसाई अन्याय कर रहे हैं, किन्तु अब परिवर्तन होगा। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि जो कोई भी अन्यायी हैं और विगत हजारों वर्षों से ये सभी अन्याय करते हुए शैतान के पुत्र, अनुयायी या भक्त बने हुए हैं, अब ये सभी परमेश्वर के पुत्र, अनुयायी या भक्त बनेंगे।

93. पक्षपात अन्याय है, निष्पक्षता न्याय है

''मुँह देखकर न्याय न चुकाओ, परन्तु ठीक-ठीक न्याय चुकाओ।'' -(बाइबिल, नयानियम, यूहन्ना, 7:24)

निष्पक्ष व्यवहार ही न्याय है। निष्पक्षतापूर्वक सभी के समुचित हितों–अधिकारों अथवा कर्तव्यों–उत्तरदायित्वों का निर्धारण ही न्याय है। मुँह देखकर न्याय चुकाने का अभिप्राय पक्षपात करने से है। निष्पक्ष न्याय वह है, जो अपने और पराये के आधार पर नहीं, बल्कि सही और गलत के आधार पर निर्णीत होता है। यही ठीक–ठीक न्याय का निर्णय है।

94. धूर्त दान करता है, न्याय को टालता है

''हे फरीसियों! तुम पर हाय! तुम पोदीने और सुदाब का, और सब भाँति के साग-पात का दसवाँ अंश (दान) देते हो। परन्तु न्याय को और परमेश्वर के प्रेम को टाल देते हो। चाहिए तो था कि इन्हें भी करते रहते और उन्हें भी न छोड़ते।'' -(बाइबिल, नयानियम, लूका, 11:42)

अन्यायपूर्वक अतिरेक धनसम्पदा बटोरकर लुटे–पिटे लोगों को दान करने की प्रक्रिया के द्वारा महान बने रहने की चेष्टा अनादिकाल से चली आ रही है, जिसमें कर्ण, हरिश्चन्द्र, लालजी टण्डन जैसे लोगों को महारथ हासिल रही है। साम, दान, दण्ड, भेद की धूर्ततापूर्ण राजनीति ने जनता के साथ भीषण छल किया है। न्याय और प्रेम जो कि धर्म के मूल आधार हैं, वे दान करने वाले दानवों को रुचते नहीं। किन्तु न्याय के बिना समाज में किसी भी दान–दक्षिणा से कल्याण संभव नहीं।

95. अन्यायी से न डरो! न्याय करो!

''मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और लाभ-हानि को समझे। अन्यायकारीबलवान से भी न डरे और धर्मात्मानिर्बल से भी डरता रहे। इतना

ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वह महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति और प्रियाचरण करे और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जाएँ, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक कभी न होएँ। 'निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'।'' -(स्वामी दयानन्दसरस्वती, आर्यसमाज, ग्रंथ : सत्यार्थप्रकाश)

'न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' *अर्थात् न्याय के पथ से बुद्धिमानों के पैर विचलित नहीं होते। अतः न्याय को बुद्धिमत्ता का परिचायक माना जाता है। नय-अनय का बोध ही विवेक कहलाता है। न्याय-अन्याय का निर्णय करने की शक्ति ही विवेक है। इसीलिए विवेकहीन व्यक्तियों में न्यायशीलता नहीं पायी जाती। धरती पर मानवसमाज में न्याय की स्थापना के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के धर्म विकसित होते चले गए। किन्तु न्यायविवेक के अभाव में न्याय व्यवस्था अभी तक प्रतिष्ठित न हो सकी। जिन महापुरुषों में किंचित सत्विवेक जाग्रत हुआ उन्होंने आजीवन न्यायशीलता के लिए संघर्ष किया। उनके पश्चात उनके विवेकहीन अनुयायियों ने उनके आन्दोलन को कहीं और पहुँचा दिया। अतः अब तक के सभी प्रयत्न प्रायः व्यर्थ अथवा अल्पपरिणाम वाले ही सिद्ध हुए हैं। अब समय आ गया है कि पूर्ण परिणाम प्रकट हो।*

96. समाधिकारी बनो!

''वे लोग साम्प्रदायिक कहे जाएँगे, जो देश के प्रति निष्ठा रखते हुए भी शेष समाज से अलग, अपने पंथ, बिरादरी, भाषा और तथाकथित जाति के आधार पर सोचते हों, और अपने मर्यादित लाभ एवं राजनीतिक सत्ता के उपभोग के निमित्त ऐसे विशेष अधिकारों व सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हों जो समाज के सर्वसामान्य व्यक्तियों को उपलब्ध न हों और इस उद्देश्य से वे दूसरों के साथ घृणा व द्वेष भी करते हों, उनका विरोध करते हों तथा कभी-कभी हिंसात्मक उपायों का भी अवलंबन करते हों।''

-(माधवरावसदाशिवरावगोलवकर, रा.स्व.सं., ग्रन्थ : समग्रदर्शन खण्ड-4)

अहा! धन्य हो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मसीहा आदरणीय गोलवलकर जी! आपने तो कमाल की बात कह दी। न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था के विषय में अब इसके बाद कुछ भी कहना शेष नहीं रह गया है। यही तो मानवसमाज का न्यायधर्म है कि जो कुछ भी तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए चाहो। धरती के भगवानों! बस इतना ही तुम कर लो, तो सारी धरती धन्य हो जाए और तुम्हारे करकमल इस धरती के दुर्भाग्य को समाप्त करने वाले और सौभाग्य को प्रतिष्ठित करने वाले प्रतीक बन जाएँ। किन्तु हाय! तुम्हारी कथनी और करनी में धरती और आकाश जैसा अन्तर दिखाई पड़ता है। कैसा दुर्भाग्य है इस धरती का कि इसकी सन्तानों में से कोई भी सपूत सिद्ध नहीं हो रहा है। कोई हिन्दूराष्ट्र का गठन कर देना चाहता है, कोई मुस्लिमराष्ट्र का गठन कर देना चाहता है, कोई सारी दुनिया को ईसाईराष्ट्र बना देना चाहता है। कोई सारी दुनिया को बौद्धराष्ट्र बना देना चाहता है। हाय रे फिरकापरस्ती! तेरा जवाब नहीं। सबको अपने-अपने वर्ग, अपने-अपने सम्प्रदाय, अपने-अपने दल की फिक्र खाए जा रही है। किसी ने ठीक ही कहा है- ***'निहित स्वार्थ में डूब सभी ने क्या से क्या कर डाला। जिस औषधि से अमृत झरता, उससे जहर निकाला।।'*** *अर्थात् जिस राष्ट्रीय व्यवस्था से मानव को जीवन प्राप्त होना था, उससे मानवता के विनाश का तांडवनर्तन चल रहा है।* ***'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'*** *का उद्घोष हमारे वेद-वेदान्त की आन, बान और शान है। अद्वैतदर्शन की धुरी पर नाचने वाला सनातन धर्म ऐसी ही न्यायशीलता का प्रतिपादक है कि जो आचरण तुम्हें अपने लिए प्रतिकूल जान पड़े वह आचरण दूसरों के साथ मत करो। सबको समुचित शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण प्रदान करके एक न्यायशील राष्ट्र का निर्माण करो, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि सभी वर्गों, मजहबों, सम्प्रदायों, पन्थों के अनुयायियों को सुखशान्तिपूर्वक जीवन जीने की अनुमति प्रदान करो। आशा है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने पूर्व मार्गदर्शक की उपरोक्त बात पर अमल करने की चेष्टा करेगा।*

97. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता ही न्याय है!

''पश्चिमी जगत में राजकीय व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता का संघर्ष आज भी जारी है। कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त को लेकर लेनिन ने आर्थिक समानता लाने के लिए जिस व्यवस्था को स्थापित किया, उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का गला घोट दिया गया था। यूरोप व अमेरिका की पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता (आर्थिक स्वामित्व) को कायम रखा गया तो आर्थिक समानता की बलि चढ़ानी पड़ी। जाहिर है कि राजतन्त्र की संसदीय शासनपद्धति द्वारा स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता दोनों में से किसी एक को ही प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान राजनीतिक ढाँचों में दोनों को प्राप्त करना शक्य नहीं है।

विज्ञान तथा टेक्नॉलॉजी ने जो उपलब्धियाँ व्यक्ति के हाथ में रख दी हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक समानता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू बनाए जा सकते हैं, बशर्ते मानवसमाज की बुनियाद स्वशासन पर, (न्यायरूपी) धर्म पर आधारित हो। जब तक समाज शासन की बागडोर किसी अन्य के हाथों में रखेगा, तक तब संसार में आर्थिक समानता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव बना ही रहेगा।''

-(स्वामी प्रज्ञानन्दतीर्थ, सन्तचेतना, धर्म एवं राजनीति : वैकल्पिक चिन्तन)

राष्ट्रीय व्यवस्था केवल सार्वजनिक हितों और सार्वजनिक कार्यों के लिए परिकल्पित की गई है। लोगों की व्यक्तिगत या निजी बातों में राष्ट्रीय व्यवस्था का हस्तक्षेप अनैतिक है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन करने तक सीमित रहती है। लोगों की निजी अभिरुचियों, इच्छाओं में दखल देना अन्याय है। अतः सरकार का कर्तव्य यह है कि वह शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा और संरक्षण प्रदान करने सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करे। किन्तु वर्तमान विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र में लोकतान्त्रिक या सार्वजनिक व्यवस्था नहीं है। लोकतन्त्र के नाम पर भी छिपा हुआ राजतन्त्र जो कि परतन्त्रता, दासता, गुलामी को जन्म देने वाला है, उसी ने जनता को अपने हाथ की कठपुतली बना कर उसकी स्वतन्त्रता का हनन किया है। आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक आदि चारों तलों पर विश्वमानवसमाज में सर्वत्र अन्याय की कलुषित धारा बह रही है। किन्तु अब न्याय का समय आ गया है।

98. न्याय ही समाज का मूल धर्म है

''ओ आत्मा के पुत्र! मेरी दृष्टि में सबसे अधिक प्रिय न्याय है, अतः तुम मेरी कामना करते हो तो न्याय से जी न चुराओ और उसकी उपेक्षा मत करो, क्योंकि तभी शायद मैं तुम्हारा विश्वास करूँ।

तुम न्याय के द्वारा ही अपनी आँखों से, न कि दूसरों की आँखों से देख पाओगे और अपने ही ज्ञान से, न कि अपने पड़ोसी के ज्ञान से सकल पदार्थों को समझोगे। इस पर तुम अपने दिल में सोचो, तुम्हें क्या बनना शोभा देगा? 'न्याय' निश्चय ही मेरा तुम्हें वरदान है तथा मेरी प्रेममय करुणा का संकेत है। हमेशा अपनी आँखों के सामने न्याय को रखो।''

-(बहाईधर्म, निगूढ़वचन : 2, बहाउल्लाह के ईश्वरीय संदेश)

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि सभी धर्मों का मूल उपदेश न्याय ही है, क्योंकि न्याय के द्वारा ही पारस्परिक द्वेष समाप्त होता है और पारस्परिक प्रेम का उदय होता है। परमेश्वर को न्याय ही सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। किन्तु परमेश्वर की आड़ में सभी धर्मों, मजहबों, सम्प्रदायों ने अन्याय का भीषण कुचक्र चला रखा है। चारों ओर विषमता-असमानता रूपी अन्याय ही सबका आराध्य बन चुका है। फलस्वरूप मानवसमाज की सड़ांधता सर्वत्र व्याप्त हो रही है। कवि 'दिनकर' ने ठीक ही कहा है– ***'जब तक है वैषम्य समाज सड़ेगा। कैसे हो करके एक ये देश बढ़ेगा।।'*** *समता के बिना एकता की संभावना किंचित भी नहीं होती। न्याय के बिना प्रेम की चर्चा ही व्यर्थ है। मानवसमाज के लिए न्याय ही परमेश्वर का वरदान है, क्योंकि न्याय से ही सबको सब कुछ समुचित रूप से प्राप्त हो पाना संभव होता है। जिस समाज या राष्ट्र में न्याय नहीं होता, उसी समाज या राष्ट्र में मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों, गुरुद्वारों आदि में गिड़गिड़ाने वालों की संख्या बढ़ी-चढ़ी होती है।*

99. न्याय का साम्राज्य ही ईश्वर का साम्राज्य है

''सावधान रहो कि तुमसे किसी के प्रति अन्याय न हो चाहे वह राई के दाने जितना छोटा क्यों न हो। अपने मतभेद सुलझाओ और शस्त्रों को कम करो जिससे तुम्हारा खर्च का भार हल्का हो सके। विवेक की सीमाओं का कभी उल्लंघन न करो और न ही अत्यंत खर्चीले व्यक्तियों में तुम्हारी गिनती हो। तुम्हें ज्ञात हो कि तुम्हारे मध्य रहने वाले निर्धन, ईश्वर के विश्वस्त हैं। तुम्हें जागरूक होना पड़ेगा कि तुम उसके विश्वास को धोखा न दो और गरीबों के प्रति अन्यायी न बनो। (जी.डब्लू.बी. : 249)

एक सत्य ईश्वर मेरा साक्षी है। (जी.डब्लू.बी. : 285)

ईश्वर हमें एकता का प्रकाश प्रदान करे, जो पूरी दुनिया को स्वयं में लपेट ले और सभी लोगों के मस्तकों पर 'राज्य ईश्वर का है' की मुहर अंकित हो जाए। (जी.डब्लू.बी.:11)।''

-(बहाईधर्म : एक परिचय, ग्लोरिया फैजी)

*सत् और असत् के बीच, सही और गलत के बीच, उचित और अनुचित के बीच भेद को देखने की शक्ति को ही विवेक कहते हैं। विवेक द्वारा निर्धारित समुचित सीमाओं का उल्लंघन ही अन्याय है। विवेकशील निर्णय ही न्याय है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों के बीच हितों का समुचित वितरण ही न्याय है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के समुचित अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण ही न्याय है। हमें सावधानीपूर्वक न्याय का पालन करते हुए अन्याय से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। बालक, स्त्री, वृद्ध, रुग्ण, असहाय, अनाथ, असमर्थ, अक्षम, अविकसित, निर्बल, अबल, अल्पबल, अल्पबुद्धि, अल्पसंकल्प, अल्पचेतना आदि की अवस्था में किसी का शोषण, दलन, दमन, उत्पीड़न न होने पाए, यह देखना ही न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था का परमकर्तव्य है। इसप्रकार न्याय ही राष्ट्र का ईश्वर है। किन्तु यदि राज्य ईश्वर का न हो तो राष्ट्र के विखण्डित होकर चूर-चूर हो जाने का खतरा बना रहता है। न्याय के अनुपात में ही राष्ट्रीय एकता सधती है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा न्यायधर्म के अवलम्बन में ही निहित है। न्यायधर्म में वह सामर्थ्य है कि वह सम्पूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बाँधकर रख सकता है। **'विश्व-बन्धुत्व'** को जन्म देने वाली सत्ता का नाम ही न्याय है।*

100. न्याय ही सर्वप्रिय वस्तु है

भगवान बहाउल्लाह हमें बताते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं में से 'न्याय' को वे अधिक महत्त्व देते हैं :-

''हे आत्मा के पुत्र! मेरी दृष्टि में सर्वप्रिय वस्तु न्याय है। यदि तू मेरी कामना करता है तो उससे विमुख न हो।''

''प्रत्येक मानव का दैनिक भोजन पर जन्मसिद्ध अधिकार है जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं अथवा जीविका उपार्जन के साधनों में समान अवसर हों।।''

''लोगों की परिस्थितियों की व्यवस्था अवश्य ही ऐसी हो कि दरिद्रता का सर्वथा लोप हो जाए, कि यथासंभव प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रेणी और पद के अनुसार सुख तथा समृद्धि में भागीदार बने।''

''हम अपने बीच एक ओर उन लोगों को देखते हैं जो धन के भार में दबे हुए हैं और दूसरी ओर उन भाग्यहीनों को जो बिना किसी आधार के भूख से तड़पते हैं- वे जिनके पास बहुत से राजमहल हैं और वे जिनके पास सिर छुपाने को भी स्थान नहीं। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें भाँति-भाँति के मूल्यवान तथा स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हैं जबकि दूसरों को जीवित रहने के लिए रोटी के टुकड़े भी पूरी मात्रा में प्राप्त नहीं होते। कुछ व्यक्ति मखमली, समूरी तथा उत्तम वस्त्र धारण करते हैं, जबकि दूसरों के पास अपने आप को सर्दी से बचाने के लिए अपर्याप्त घटिया तथा सादे वस्त्र मुश्किल से होते हैं।''

''यह परिस्थिति उचित नहीं और अवश्य ही सुधारी जानी चाहिए।''

''निश्चित रूप से कुछ व्यक्तियों के अत्यन्त धनी तथा दूसरों के शोकपूर्ण हद तक निर्धन होने के कारण एक संस्था की आवश्यकता है जो इन परिस्थितियों पर काबू पा सके तथा इन्हें सुधार सके। धनिकता को सीमित करना उतना ही आवश्यक है जितना कि निर्धनता को रोकना। इनमें से किसी की भी अधिकता अच्छी नहीं।''

''जब हम देखते हैं कि निर्धनता को भुखमरी की सीमा तक बढ़ने दिया जा रहा है तो यह इस बात का निश्चित प्रतीक है कि हमें कहीं न कहीं अत्याचार सहना पड़ेगा। इस विषय में लोग अवश्य ही कुछ न कुछ उद्यम करने और उन परिस्थितियों के बदलने में देर न करें जो परिस्थितियाँ लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या को अत्यन्त निर्धनता की चक्की में पीस देती है''।

-(बहाईधर्म, नई फुलवाड़ी : हूशमन्द फत्हेआजम)

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि न्याय ही मानवसमाज की धुरी है। मानवता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता की रक्षा न्यायधर्म में ही निहित है। अतः न्याय ही सबसे प्रिय वस्तु है। न्याय परमेश्वर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि को अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि सबमें से प्रत्येक के हितों, अधिकारों की रक्षा न्यायधर्म के द्वारा ही संभव होती है। आर्थिक न्याय ही प्रमुख न्याय है। आर्थिक नीति ही राष्ट्रीय नीति है। अर्थव्यवस्था ही राष्ट्रीय व्यवस्था है। अर्थनिर्णय ही न्यायनिर्णय है। आर्थिक संरचना का न्यायशील स्वरूप ही सच्ची राष्ट्रीय व्यवस्था है। किन्तु यह आर्थिक संरचना संसाधनों की धुरी पर टिकी होती है, धन की धुरी पर नहीं। धन और संसाधन में भेद है। दोनों बातें बिल्कुल भिन्न हैं। न्याय का सम्बन्ध धन के समान वितरण से नहीं, बल्कि संसाधनों के समुचित वितरण से है। कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, नेतृत्व आदि कर्मों से चार प्रकार के संसाधनों का संयोग है। कृषिभूमि, वाणिज्यिकपूँजी, सरकारीवेतन, नेतृत्वभत्ता आदि चार प्रकार के संसाधन हैं, जो मानवजीवननिर्वाह के लिए आजीविका के रूप में जाने जाते हैं। वरीयताक्रम के अनुसार इन चारों संसाधनों का न्यायशील संवितरण ही राष्ट्रीय आर्थिक संरचना का सच्चा स्वरूप है। धन तो इन चारों संसाधनों से उपार्जित होने वाली आय के रूप में जाना जाता है। यह आय (Income) परिश्रम की देन है। जो जितना परिश्रम करेगा, उसकी उतनी आय होगी। परिश्रम के अनुपात में ही धनी अथवा निर्धन होना सिद्ध होता है। किन्तु संसाधनों के समुचित वितरण के अभाव में धनी और निर्धन होने की प्रक्रिया भी बदल जाती है। यदि कुछ लोगों द्वारा समस्त संसाधनों को अन्यायपूर्वक अधिग्रहित कर लिया जाए, तो शेष लोगों के लिए संसाधनों का अभाव उत्पन्न हो जाता है। संसाधनों के अभाव में धनोपार्जन करना कठिन अथवा असंभव हो जाता है, जिससे धनी और निर्धन होने की परिस्थितियाँ प्रकट होती हैं। इसप्रकार न्यायशील समाज में धनी और निर्धन होना परिश्रम पर निर्भर होता है किन्तु अन्यायशील समाज में धनी और निर्धन होना संसाधनों के अभाव पर निर्भर करता है। अतः एक न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था का यह कर्तव्य है कि वह आर्थिक संसाधनों के समुचित वितरण पर अपना सम्यक् ध्यान केन्द्रित करे।

101. दिया तले अँधेरा फैलाने वाले अन्यायवादियों सावधान!

''साम्यवाद का सिद्धान्त और उसका आन्तरिक भाव नवीन नहीं है। उसका जन्म उसी समय हो गया था, जब मनुष्य ने जंगली अवस्था से निकलकर गाँव और कस्बों का निर्माण किया था। तभी से कुछ लोग शक्ति, उद्योग, चालाकी अथवा संयोग के फल से सम्पत्तिशाली बन गये और बहुत से निर्बलता, साहसहीनता, भोलेपन अथवा प्राकृतिक कोप से दरिद्र हो गये। अमीरों ने गरीबों को सताना, लूटना और गुलाम बनाकर सेवा कराना आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप गरीबों में असन्तोष का भाव पैदा होने लगा।

इसप्रकार यह अमीरों और गरीबों अथवा अधिकारसम्पन्न और अधिकारविहीन लोगों का संघर्ष अति प्राचीनकाल से होता आया है। इस कलह में जिन लोगों ने गरीबों के पक्ष का समर्थन किया अथवा जिन्होंने इन लड़ाई-झगड़ों का अंत करके समाज में न्याय और शान्ति की स्थापना करने की चेष्टा

की, वे वास्तव में अपने समय के साम्यवादी ही थे, चाहे उनकी भाषा आज से सर्वथा भिन्न रही हो और चाहे उनका संगठन आर्थिक आधारों के बजाय धार्मिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर हुआ हो। पाठकों को शायद यह बात कुछ असंगत सी प्रतीत हो, पर हमारे ख्याल से महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि जितने महान् धर्मप्रचारक हुए हैं, वे सब इसी श्रेणी के व्यक्ति थे और उनके जीवनकार्य का सारांश यही था। यह बात दूसरी है कि उनके पश्चात स्वार्थी और अवसरवादी लोग उनके संगठनों में घुस गये और कुछ ही समय में उन्होंने मूलवस्तु की कायापलट कर दी।

ऐतिहासिक काल के पूर्व की अवस्था का विवेचन तो हम स्थानाभाव के कारण कर नहीं सकते, पर यह सर्वविदित है कि वैदिकयुग का भारतीय समाज, समानता और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर आधारित था। उस समय मनुष्यों की तो क्या बात, यहाँ के ऋषि-मुनियों ने प्राणिमात्र से मैत्रीभाव रखने का उपदेश दिया था और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की संसारभर में घोषणा कर दी थी।

इसप्रकार साम्यवाद या समाजवाद की भावना हजारों वर्षों से 'सामाजिक न्याय' की स्थापना का प्रयत्न करती आयी है, पर कुछ व्यक्तियों की स्वार्थ और अपहरण की प्रवृत्तियों ने सदैव उसको दबाने और अन्याय तथा शोषण की प्रणाली को जारी रखने का प्रयत्न किया है।''

-(श्रीरामशर्मा आचार्य, ग्रन्थ : धर्मतत्त्व का दर्शन और मर्म)

साम्यवाद अथवा समाजवाद के नाम पर वर्तमानकाल में जो कलुषित राजनीति चल रही है, उसका इन शब्दों से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन शब्दों का तो अर्थ ही कुछ और है। ये शब्द किसी मार्क्सवाद, लेनिनवाद, स्टालिनवाद, माओवाद इत्यादि के द्वारा परिभाषित नहीं किए जा सकते, बल्कि ये शब्द तो विशुद्ध न्याय की सम्यक् जीवनधारा के मूलस्रोत हैं। साम्यता, सामाजिकता को पारस्परिक संतुलन का निष्पादक कहा जा सकता है। सम्यक् का अर्थ है– पूर्ण और उचित। इसप्रकार जो निर्णय पूर्णतः कल्याणकारी हो, वही सम्यक् निर्णय है। सम्यक् निर्णय ही न्याय है। न्याय का अभिप्राय समता और औचित्यता के अर्थ में सिद्ध होता है। जो कुछ भी पूर्ण है, उचित है, वही न्यायशील है। किसके लिए क्या उचित है, सम्यक्रूप से उसके हितों की रक्षा ही न्याय है।

विश्वमानवसमाज में अब तक जो कुछ भी श्रेष्ठ क्रान्ति, आन्दोलन, संघर्ष, सुधार, युद्ध आदि हुए, वे सब न्याय की प्राप्ति के लिए ही हुए हैं। न्यायी और अन्यायी के बीच ही धर्मसंघर्ष या धर्मयुद्ध उत्पन्न होता है। वास्तव में न्याय की रक्षा के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध ही धर्मयुद्ध है। किन्तु ये सभी धर्मयुद्ध अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए लड़ना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय तो सर्वात्मक हितों का संरक्षक होता है। सार्वजनिक हितों के संरक्षण में प्रायः युद्ध की संभावना कम रहती है, क्योंकि धरती पर दुष्टों और शिष्टों की संख्या का अनुपात कभी समान नहीं होता। दुष्टों की संख्या सदैव न्यून होती है। दुष्ट यदि अधिक हो जाएँ, तो धरती पर जीवन समाप्त हो जाता है। अतः धरती पर जीवन की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि अभी दुष्टों की संख्या बहुत कम है। आवश्यकता है कि सार्वजनिक हितों पर आधारित न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था अपनायी जाए, ताकि प्रत्येक नागरिक के समुचित अधिकारों की रक्षा हो सके।

102. शिक्षाप्राप्ति का मूलभूत जनाधिकार

''हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है। भारतवर्ष के सत्यानाश का मूलकारण यही है कि देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि राजशासन और दम्भ के बल से केवल मुट्ठीभर लोगों के अधिकार में रखी गयी है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है, तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात जनता में विद्या का प्रचार करना होगा। आधी सदी से समाज-सुधार की धूम मची हुई है। मैंने दस वर्ष तक भारत के अनेकानेक स्थानों में घूमकर देखा कि देश में समाज सुधारक समितियों की बाढ़ सी आयी है। परन्तु जिनका रुधिर शोषण करके हमारे 'भद्र लोगों' ने अपना यह खिताब प्राप्त किया है और कर रहे हैं, उन बेचारों के लिये एक भी सभा नजर न आयी! मुसलमान लोग कितने सिपाही लाये थे? यहाँ अंग्रेज कितने हैं? चाँदी के छः सिक्कों के लिये अपने बाप और भाई के गले पर चाकू फेरनेवाले लाखों

आदमी सिवा भारत के और कहाँ मिल सकते हैं? सात सौ वर्षों के मुसलमानी शासनकाल में छः करोड़ मुसलमान, और सौ वर्षों के ईसाईराज्य में बीस लाख ईसाई कैसे बने? मौलिकता ने देश को क्यों बिल्कुल त्याग दिया है? क्यों हमारे सुदक्ष शिल्पी यूरोपवालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिनोंदिन दुर्दशा को प्राप्त हो रहे हैं? किस बल से जर्मन कारीगरों ने अँगरेज कारीगरों के कई सदियों के दृढ़ प्रतिष्ठित आसन को हिला दिया?

केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमते हुए वहाँ के गरीबों तक के लिये अमन-चैन और शिक्षा की सुविधाओं को देखकर अपने यहाँ के गरीबों की बात याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला- शिक्षा! शिक्षा से आत्मविश्वास आता है और आत्मविश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग उठता है। किन्तु (शिक्षा के बिना) हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित, संकुचित होता जा रहा है। न्यूयार्क में मैं देखता था आइरिश उपनिवेशवासियों को आते हुए अँगरेजों के पैर से कुचले हुए, कान्तिहीन, निःसम्बल, अतिदरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी सी गठरी। उनकी चाल और चितवन में डर ही डर समाया रहता था। छः महीनों बाद यही दृश्य बिल्कुल बदल गया। अब वह तनकर चल रहा है, उसकी वेशभूषा बदल गयी है, उसकी चाल और चितवन में पहले का डर दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा कैसे हुआ? उत्तर में हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारो तरफ घृणा से घिरा रहता था- सारी प्रकृति एक स्वर से उसे कह रही थी, 'बच्चू! तुझे और आशा नहीं है, तू गुलाम ही पैदा हुआ है और सदा गुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म यह सुनते-सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया और बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अतिनीच है। उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखे, तो चारो ओर से ध्वनि सुनाई पड़ने लगी, 'बच्चू! तू भी वही मनुष्य है, जो हम लोग हैं। जो कुछ हुआ है, सब मनुष्यों ने ही किया है। तेरे और मेरे समान आदमी सबकुछ कर सकते हैं। साहसी बन उठ!' बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है- बस उसके अन्दर सोता हुआ ब्रह्मभाव जाग उठा, मानो स्वयं प्रकृति ने ही कहा- 'उत्तिष्ठत् जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत्'- उठो, जागो, और ध्येय की प्राप्ति तक रुको मत।

इसीप्रकार हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह भी बड़ी अभावात्मक (Negative) है। स्कूल के लड़के इससे सीखते तो कुछ भी नहीं, वरन् जो कुछ अपना है, उसका भी नाश हो जाता है।''

-(स्वामी विवेकानन्द, ग्रन्थ : हे भारत! उठो, जागो!)

*शिक्षा ही मानसिक विकास की धुरी है। शिक्षा के बिना मानसिक विकास गतिमान नहीं हो सकता। मानव की मानवता को विकसित करने के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक है। शिक्षा के बिना मानव भी पशुतुल्य एक साधारण जीवमात्र की दशा में स्थित रहता है। नीतिशास्त्रों का कथन है– **'विद्याविहीनः पशुभिर्समानः'**। अनादिकाल से मानवजीवन के लिए प्रथम 25 वर्ष की आयु को शिक्षाप्राप्ति की अवधि घोषित किया गया है। यह शिक्षा मनुष्य के लिए अधिकार भी है और कर्तव्य भी। निश्चय ही 25 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करने का उसे अधिकार है और शिक्षा प्राप्त करना उसका कर्तव्य है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि उठो! जागो! और अपना शिक्षाप्राप्ति के अधिकार और कर्तव्य का पालन करो।*

103. भौतिक संसाधनों का समुचित वितरण करो! रोजगार दो!

''उन्नति की पहली शर्त है - स्वाधीनता। मनुष्य को जिसप्रकार विचार और वाणी में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, रहन-सहन, विवाह आदि हर एक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए- जब तक कि उसके द्वारा दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँचती।

हम मूर्खों की तरह भौतिकसभ्यता की निन्दा किया करते हैं। और क्यों न करें, अंगूर खट्टे जो हैं! भारत की आध्यात्मिक सभ्यता की श्रेष्ठता को स्वीकार करने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि सारे भारतवर्ष में एक लाख से अधिक यथार्थ आध्यात्मिक नर-नारी नहीं है। अब प्रश्न यह

है कि क्या इन मुट्ठीभर लोगों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा? क्यों एक भी आदमी भूखों मरे? मुसलमानों के लिये हिन्दुओं को जीतना कैसे सम्भव हुआ? हिन्दुओं का भौतिकसभ्यता का निरादर करना ही इसका कारण था। मुसलमानों ने ही इन्हें दर्जी द्वारा सिले हुए कपड़े पहनने तक सिखलाया! क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दू, मुसलमानों से साफ ढंग से खाने का उपाय भी सीख लेते, ताकि रास्ते की धूल भोजन के साथ न मिलने पाती! भौतिकसभ्यता, नहीं-नहीं, भोगविलास की भी जरूरत है- क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। अन्न! अन्न! अन्न चाहिए! मुझे तो इस पर विश्वास नहीं होता कि जो भगवान मुझे यहाँ पर अन्न नहीं दे सकता, वह स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा। भारत को उठाना होगा, गरीबों को दो रोटी देनी होगी, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहिती की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चक्कर खाती हुई एकदम अतलांतिक महासागर में जा गिरें! ब्राह्मण हो या संन्यासी- किसी की बुराई को क्षमा न मिलनी चाहिए। ऐसा करना होगा, जिससे पुरोहिती की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान तक न रहे, सब के लिये अन्न अधिक सुलभ हो जाये और सब को अधिकाधिक सुविधा मिलती रहे।

स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो स्वयं औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो, अंग्रेजों ने राज्य तुम्हारे हाथों में सौंप दिया तो होगा क्या? तब तो तुम प्रजा को दबाओगे और उन्हें कुछ भी अधिकार न दोगे। गुलाम तो शक्ति चाहता है- दूसरों को गुलाम बनाने के लिये।

'सबका समान अधिकार है', 'सभी समान हैं'- ये जो तत्त्व पूर्वकाल में आचार्य शंकर, रामानुज और चैतन्य आदि द्वारा प्रचारित हुए थे, उन्हीं के आधार पर समाज को पुनः गठित करने का प्रयत्न करो।

उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सब के सेवक हो जाओ, निःस्वार्थ होओ, अनन्त धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आयेगी। काम करो; काम करो; दूसरों के हित के लिये काम करना ही श्रेष्ठजीवन का लक्षण है।

मैं चाहता हूँ कि हममें किसीप्रकार की कपटता, कोई दुरंगी चाल, कोई दुष्टता न रहे। मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ- सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जो दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। दुराचार की गन्ध या बदनीयती का नाम तक न रहने पाये।

किसीप्रकार का टालमटोल या छिपे तौर बदमाशी या गुप्त शठता हम में न रहे और पर्दे की आड़ में कुछ न किया जाय। गुरु का विशेष कृपापात्र होने का कोई भी दावा न करे। चाहे धन आये या न आये; आदमी मिले या न मिले; क्या तुम्हारे पास प्रेम है? क्या तुम्हें ईश्वर पर भरोसा है? बस, आगे बढ़ो, तुम्हें कोई रोक न सकेगा।''

-(स्वामी विवेकानन्द, ग्रन्थ : हे भारत! उठो, जागो!)

न्याय के बिना स्वतन्त्रता की परिकल्पना व्यर्थ है। तुम्हारी स्वतन्त्रता, तुम्हारा स्वामित्व, तुम्हारी स्वाधीनता, तुम्हारा स्वावलम्बन तब तक तुमसे छिना रहेगा, जब तक कि तुम समाज या राष्ट्र की व्यवस्था को न्यायशील नहीं बना लेते। तुम्हें समुचित अधिकारों की सुलभता ही तुम्हारी स्वतन्त्रता है, जो तुम्हारे हितों–अधिकारों से तुम्हें वंचित करती हो, ऐसी कोई भी व्यवस्था में तुम परतन्त्र ही हो, गुलाम ही हो। इस परतन्त्रता, गुलामी और दासता को प्रदान करने वाला चाहे कोई विदेशी हो अथवा देशी हो अथवा तुम्हारा कोई निकट सम्बन्धी ही क्यों न हो, वह तुम्हारे साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने वाला अनैतिक और अन्यायी है। अन्यायी कोई भी हो, वह तुम्हारी स्वतन्त्रता रूपी समुचित हितों–अधिकारों का नाश करता है। अनादिकाल से समस्त ज्ञान–विज्ञान और समस्त सन्त–विद्वान यही कहते आए हैं कि ***'सब समान, सब सम अधिकारी। धरती पर जितने नर-नारी।।'*** *सबको समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा और समुचित संरक्षण प्राप्त हो, यही न्यायशील राष्ट्रीय व्यवस्था का न्यायरूपी धर्म है।*

104. शिक्षा, रोजगार, सुविधा, संरक्षण प्रदान करो!

''देश के करोड़ों गरीब लोगों की गरीबी जल्द से जल्द दूर करने (मिसाल के तौर पर 2010 तक) और जरूरतों को पूरा करने वाली बातें एकदम साफ हैं कि देश के हर निवासी को उम्दा स्वास्थ्यसेवा, शिक्षा, हुनर (कौशल) हासिल करने के मौके, रोजगार के मौके आदि मिलने चाहिए। इसके अलावा भारत को सुरक्षा के मामले में आत्मनिर्भर होना होगा, देश की क्षमताओं को बढ़ाना होगा और देश के लिए ऐसी व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी, जिससे हर क्षेत्र में सुधार होता रहे और व्यवस्था अडिग रहे। क्या भारत अपनी जरूरतों को पूरा कर सकेगा? क्या वह उन रास्तों पर चल सकेगा, जिन पर चल कर उसकी सब जरूरतें पूरी होती हैं।''

-(ए.पी.जे.अब्दुलकलाम : राष्ट्रपति, ग्रन्थ : भारत 2020 : नवनिर्माण की रूपरेखा)

सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसभ्य, बुद्धिमान, विद्वान लोग तो यही चाहते हैं कि जनता को ये चारों जनाधिकार न्यायपूर्वक समुचित रूप से प्रदान किए जाएँ। किन्तु हमारे विधाता और विधान में ऐसी व्यवस्था न होने के कारण राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति भी ऐसा चाहते हुए भी ऐसा करने में अपने आपको असहाय और असमर्थ पाता है, क्योंकि हमारे विधाता और विधान दोनों ही इस न्यायशील नैतिकता के विपरीत अन्यायरूपी अधर्म को ही अपना जीवनलक्ष्य मानकर अन्धे धृतराष्ट्र की भाँति अपने दुर्लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्णतः संलग्न हैं। जनता चारों ओर त्राहि-त्राहि कर रही है। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में चारों ओर अशिक्षा, कुशिक्षा, अल्पशिक्षा की परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। करोड़ों बेरोजगार एक-एक रोटी के लिए मोहताज हैं। लाखों गाँव असुविधाओं से ग्रस्त हैं। विकासयात्रा उन्हें स्पर्श भी नहीं की रही है और असंरक्षण का वातावरण तो ऐसा है कि सम्पूर्ण प्रकृति ही प्रदूषित होकर सम्पूर्ण सृष्टि को विनाश की ओर घसीटती जा रही है। भारत जागे तो विश्व जागरण की पृष्ठभूमि निर्मित हो।

105. न्याय करो चाहे संविधान ही बदलना पड़े

''यदि हम भारत को एक विकसित देश के रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें अक्रियता की इस दयनीय स्थिति से उबरना होगा। यदि इसके लिए कानूनों और कार्यप्रणाली को बदलना भी पड़े, तो उन्हें भी बदल डालना चाहिए। हमें समग्रतावादी और अन्तःप्रज्ञात्मक दृष्टिकोण अपनाना होगा।''

-(ए.पी.जे.अब्दुलकलाम : राष्ट्रपति, ग्रन्थ : भारत 2020 : नवनिर्माण की रूपरेखा)

विधाताओं और विधानों की दुरावस्था को राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति भी कितने स्पष्टरूप से अनुभव कर रहा है, यह बात उपरोक्त वक्तव्य से स्वप्रमाणित हो रही है। हमें समग्रतावादी और अन्तःप्रज्ञात्मक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हुए स्पष्टरूप से कहा जा रहा है कि अब हमें जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, लिंग, रंग, देश, क्षेत्र आदि के आधार पर पारस्परिक अन्याय की व्यवस्था को हटाकर आत्मिक रूप से सबको समान मानकर सबके लिए समुचित अधिकारों का निर्धारण करना चाहिए। यह ज्ञान-विज्ञान सम्मत न्यायशील दृष्टिकोण ही कल्याणकारी है। इस न्यायशीलता को प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यकता हो तो हमें विधाता और विधान दोनों को ही बदलना पड़े तो भी इसके लिए हमें तैयार होना चाहिए। अन्यायविधान को बदलकर न्यायविधान करने में शर्म कैसी, अड़चन कैसी ? विषंविधान को बदलकर संविधान बनाने में विलम्ब क्यों ?

106. प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति की आर्थिक दशा के समतुल्य प्रत्येक नागरिक की आर्थिक दशा सुनिश्चित हो!

राष्ट्र में प्रत्येक नागरिक की आर्थिक दशा का न्यायशील समुचित निर्धारण होना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक नागरिक की न्यूनतम आर्थिक स्थिति का आधार न्यायोचित होना आवश्यक है। इस आर्थिक स्थिति का निर्धारण मासिक या वार्षिक आर्थिक आय के आधार पर किया जाना चाहिए और आर्थिक आय का यह पैमाना न्यूनतम औसत श्रमशीलता पर संभावित आर्थिक आय पर आधारित होना सुनिश्चित किया जाना चाहिए और इसके लिए समुचित आर्थिक संसाधनों की सुलभता अनिवार्य होती है, क्योंकि संसाधनों के अभाव में श्रमशीलता चरितार्थ नहीं हो सकती।

107. सरकार की भूमिका न्यायकारी हो!

''सरकार को पहला काम यह करना होगा कि वह सार्वजनिक हित के महत्त्वपूर्ण मुद्‌दों जैसे सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य पर ज्यादा तवज्जो दे। वह समाज के कमजोर वर्गों की हालत में दूरगामी सुधार लाने के उद्‌देश्य से पारदर्शी कार्यविधियों (रोजगार आदि) पर अमल करे। पिछली भूलों और गलतियों को भुलाकर उसे उद्धारक की भूमिका निभानी होगी। उसे हमेशा यह याद रखना होगा कि उसकी सब क्रियाशीलताओं का अन्तिम ध्येय है- भारत को एक विकसित देश की हैसियत दिलाना और एक ऐसे भारत की रचना करना जहाँ सब गरीबी से मुक्त हों।''

-(ए.पी.जे.अब्दुलकलाम : राष्ट्रपति, ग्रन्थ : भारत 2020 : नवनिर्माण की रूपरेखा)

न्यायशील राष्ट्र और न्यायशील सरकार के गठन की आवश्यकता अब समस्त ज्ञानियों–विज्ञानियों–सन्तों–महानुभावों द्वारा बड़ी तीव्रता से अनुभव की जा रही है। सार्वजनिक व्यवस्था द्वारा जनता को शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण प्रदान करने की न्यायशील राष्ट्रीय नीति अपनाया जाना अनिवार्य है। अब आवश्यकता है कि एक उद्धारक–मार्गदर्शक के रूप में सरकार की भूमिका मानी जाए। पातक और भ्रामक सरकार का गठन अब न होने पाए, इसके लिए हमें न्यायशील वरीयतामूलक पदनियुक्ति को स्वीकार करना होगा। वरीयता का अभिप्राय शैक्षणिक योग्यता, चारित्रिक गुणवत्ता, विकसित क्षमता एवं कार्य कौशल के सर्वोच्च स्तर से है। ऐसा भारत ही मूढ़ता, गरीबी, असुविधा और असंरक्षण से मुक्त होगा, जो न्यायशील व्यवस्था और न्यायशील सरकार द्वारा संचालित हो।

आइये हम सब मिलकर एक ऐसे न्यायशील भारत का निर्माण करें, जिसमें मानव के मानवाधिकार, जनता के जनाधिकार, जीवों के जीवनाधिकार सुरक्षित हों। जिसमें एक ऐसे मानवसमाज का स्वरूप निर्मित हो सके, जो आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक तल पर समुचित रूप से व्यवस्थित हो।

❀❀❀

गीत

इंसान का इंसान से हो भाईचारा।
यही पैगाम हमारा, यही पैगाम हमारा।।

खत्म किया जाए धरती पर जाति-पाति का किस्सा।
सबको मिले मेहनत के मुताबिक अपना-अपना हिस्सा।।
सबके लिए सुखों का समुचित हो बँटवारा।
यही पैगाम हमारा, यही पैगाम हमारा।।

महलों से ये कहें कि झोपड़ियों में दीप जलाएँ।
शिक्षा रोजगार सुखसुविधा का अधिकार दिलाएँ।।
संरक्षित हों सभी न्याय का हो उजियारा।
यही पैगाम हमारा, यही पैगाम हमारा।।

❀❀❀

राजनीति तजो न्यायनीति भजो

राजनीति को तजकर फिर से न्यायनीति अपनाओ।
अधम और निर्लज्ज राज से अपना गला छुड़ाओ।।

राजनीति और न्यायनीति के अन्तर को पहिचानो।
दोनों में जो अधिक उचित है उसको अपना जानो।।
राजलोभियों के चंगुल से अपना देश बचाओ।
राजनीति को तजकर फिर से न्यायनीति अपनाओ।।

कपटी धूर्त छली पाखण्डी राजा बन जाते हैं।
सार्वजनिक धन और सम्पदा लूट-लूट खाते हैं।।
सबका हित चाहो तो 'अंकुर' इनको मार भगाओ।
राजनीति को तजकर फिर से न्यायनीति अपनाओ।।

राजनीति कहती जनता पर राज करो मनमाना।
रक्त चूसकर असहायों का अपना भरो खजाना।।
न्यायनीति कहती है सबके हित में नियम बनाओ।
राजनीति को तजकर फिर से न्यायनीति अपनाओ।।

न्यायनीति कहती है मेरिट के अनुसार व्यवस्था।
पोषण हो सबका शोषण की रहे न कहीं समस्या।।
न्यायधर्म अपनाकर 'अंकुर' फिर मानव कहलाओ।
राजनीति को तजकर फिर से न्यायनीति अपनाओ।।

❀❀❀

न्यायधर्मसभा

जगजीतपुर, कनखल, हरिद्वार (उत्तरांचल), फोन : 01334-244760

जनमत संग्रह अभियान का परिचय

१) 'न्यायधर्मसभा' एक सामाजिक संस्था है, जो किसी भी द्वन्दपरक भाषाभेद, क्षेत्रभेद, जातिभेद, मजहबभेद, सम्प्रदायभेद, रंगभेद, लिंगभेद के आधार पर चल रही समस्त प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त होकर, न्याय को ही विश्वमानवसमाज का धर्म मानकर, राजनीति से बहुत दूर रहते हुए, न्यायनीति की पक्षधर होकर, सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए कटिबद्ध है। विश्वजनजीवनकल्याण ही जिसका एकमात्र उद्देश्य है। मानव की मानवता, समाज की सामाजिकता, नीतियों की नैतिकता, संविधान की सम्वैधानिकता, राष्ट्र की राष्ट्रीयता की स्थापना ही जिसका एकमात्र लक्ष्य है। मानवसमाज में आर्थिक न्याय, सांस्कारिक न्याय, व्यावहारिक न्याय, आध्यात्मिक न्याय की प्रतिष्ठा हेतु शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण के रूप में चार प्रकार के न्यायशील राष्ट्रीय जनाधिकारों के निर्धारण करने एवं उन जनाधिकारों को जनसुलभ कराने हेतु यह पंचवर्षीय जनमत संग्रह अभियान समाजसेवाकार्य के रूप में संचालित किया जा रहा है। समाज में सामाजिकता की स्थापना राष्ट्रीय नियमों में न्यायधर्म की स्थापना के द्वारा ही संभव है। 'न्यायधर्मसभा' के सामाजिक-न्याय संस्थापन के उद्देश्य की यही कार्ययोजना है।

२) यह जनमत-संग्रह-अभियान भारत में दो प्रकार से संचालित किया जा रहा है- जनविशेष का मतसंग्रह और जनसाधारण का मतसंग्रह। यह जनविशेष और जनसाधारण का मतसंग्रह अभियान दो चरणों में 'न्यायधर्मसभा' द्वारा चलाया जाएगा। इन दोनों अभियानों में से प्रथमतः जनविशेष का मतसंग्रह अभियान ही संचालित किया जाएगा, क्योंकि ये जनविशेषवर्ग ही सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र को प्रभावित करते हैं। उनके मत का अत्यधिक महत्त्व होता है। उनका मत अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करने वाला होता है। उनका 'एक' व्यक्तिगत मत 'अनेक' व्यक्तियों का मत सिद्ध होता है।

३) जनविशेष के अन्तर्गत वे लोग सम्मिलित होंगे, जो बहुलक व्यक्तित्व वाले हैं अर्थात् जो अनेक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे- धर्माचार्य, साधु-सन्त, पुरोहित, पादरी, इमाम, उपदेशक, शिक्षक, डाक्टर, वकील, इंजीनियर, राजनेता, अभिनेता, कलाकार, लेखक, कवि, पत्रकार, खिलाड़ी, उद्योगपति, बड़े व्यापारी, सहकारी संस्थाएँ, सामाजिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ, आध्यात्मिक संस्थाएँ, क्लब, संघ, संगठन, समूह, राजनैतिक दल, सरकारी संस्थाएँ, सरकारी पदाधिकारी अथवा अन्य कोई भी व्यक्ति जो विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न हैं, लोकप्रिय हैं, ख्यातिलब्ध हैं, उन सभी को जनविशेष की श्रेणी में रखा गया है।

४) जनसाधारण के अन्तर्गत वे लोग सम्मिलित होंगे, जो एकलक व्यक्तित्व वाले हैं अर्थात् जो केवल अपना प्रतिनिधित्व करते हैं तथा जिनका व्यक्तित्व एकाकी प्रभाव वाला है। उनका व्यक्तिगत मत केवल अपने व्यक्तिगत प्रभाव तक ही सीमित रहता है। अतः जनसाधारण के मत को उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जनमत संग्रह अभियान के दूसरे चरण में जनसाधारण का मतसंग्रह किया जाएगा, जिसके लिए खुले मतदान की प्रक्रिया अपनायी जाएगी। खुले संचार माध्यमों का उपयोग किया जाएगा। खुली जनसभाओं के माध्यम से भी जनसाधारण की सहमति को सिद्ध किया जाएगा।

५) यह जनमत संग्रह अभियान भारतसहित सम्पूर्ण विश्व को हजारों प्रकार के वर्गभेद से निकालकर केवल दो वर्गों में समायोजित करता है। एक वर्ग सामाजिक न्याय से सहमत लोगों का होगा, दूसरा वर्ग सामाजिक न्याय से असहमत लोगों का होगा। सामाजिक न्याय को प्रतिष्ठित करने वाले चारों राष्ट्रीय जनाधिकारों के न्यायशील समुचित निर्धारण हेतु सहमत लोगों के वर्ग का संघबद्ध स्वरूप ही धरती पर न्यायशील राष्ट्र के रूप में प्रसिद्ध होगा, जिसका नाम 'भारतवर्ष' होगा। सूर्य को भानु कहते हैं। ज्ञान, प्रकाश, ज्योति को ही 'भा' कहते हैं। 'भा' में 'रत' क्षेत्र को ही 'भारत' कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में रत होने के लिए तदनुकूल नियम-नीति, विधि-विधान का अवलम्बन लिया जाता है। सत्यज्ञान के अनुकूल नियम-विधान को ही न्याय की धुरी माना जाता है, जिसके अनुसार सभी प्राणी परस्पर समाधिकारी हैं। क्योंकि सत्यज्ञान के अनुसार सबमें समानरूप से एक ही आत्मतत्त्व विद्यमान है। अतः आत्मिक सत्यज्ञान की समता और प्राकृतिक जीवनविकास की औचित्यता के आधार पर निर्धारित समुचित जनाधिकारों का निर्धारक संविधान ही न्यायशील राष्ट्र 'भारतवर्ष' अथवा 'विश्वभारती' का संविधान कहलाता है।

६) यह जनमत-संग्रह-कार्य पूर्ण होने के पश्चात् इस अभियान में न्यायशील राष्ट्रीय जनाधिकारों से सहमत व्यक्तियों का एक महासम्मेलन आयोजित किया जाएगा, जिसमें इन चारों न्यायशील राष्ट्रीय जनाधिकारों को सम्वैधानिक स्वरूप प्रदान करने के लिए न्यायोचित नीति का निर्धारण किया जाएगा। इसके लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों अथवा सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों से यह न्यायाग्रह और न्यायनिवेदन प्रस्तुत किया जाएगा और तदनुकूल प्रयत्नों के द्वारा राष्ट्र में सामाजिक न्याय के प्रतिष्ठापक इन न्यायशील जनाधिकारों को समस्त नागरिकों को समुचितरूप से सुलभ कराया जाएगा। इसप्रकार इस विश्वभूतल पर विगत कई हजार वर्षों के पश्चात् पुनः एक बार सत्युगीन न्यायशील राष्ट्र का सूर्योदय होगा। सूर्य ही संवत्सर है। संवत्सर ही वर्ष है। वर्षा का अधिपति होने के कारण सूर्य को वर्ष कहते हैं। 'भारतवर्ष' इसी न्यायनेत्ररूपी सूर्य

के द्वारा ही प्रकाशित होता है। इसीलिए न्यायशील राष्ट्र का नाम 'भारतवर्ष' कहलाता है। यह न्यायशील 'भारतवर्ष' ही सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शक एवं हितैषी होगा।

७) जिसमें मानसिक विकास की संभावना है, उसे मानव कहते हैं। विश्व के सम्पूर्ण मानवसमाज में सामाजिकता की दृष्टि से जनता के बीच पारस्परिक हितों में न्यायशीलता की स्थापना हेतु राष्ट्रीय जनाधिकारों का समुचित न्यायशील निर्धारण आवश्यक होता है। शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा, संरक्षण आदि चारों जनाधिकार सार्वजनिक जनता को राष्ट्रकोष से ही प्रदान किए जाते हैं। राष्ट्रीय सरकार एक सार्वजनिक संस्था है। राष्ट्रकोष सार्वजनिक सम्पत्ति है। जनाधिकार सार्वजनिक अधिकार हैं। अतः ये चारों जनाधिकार राष्ट्रीय सरकार अथवा राष्ट्रकोष से प्राप्त होने वाले जनता के अधिकार हैं। अतः सार्वजनिक संस्थारूपी सरकार का यह कर्तव्य और उत्तरदायित्व है कि वह राष्ट्र के समस्त नागरिकों को समुचित शिक्षा, समुचित रोजगार, समुचित सुखसुविधा एवं समुचित संरक्षण प्रदान करे। प्रायः 90% जनता इन चारों राष्ट्रीय जनाधिकारों से सहमत सिद्ध होगी। शेष असहमत होने वालों, आनाकानी अथवा टालमटोल करने वालों की संख्या में केवल वे लोग होंगे जो अज्ञानी, अनभिज्ञ, बुद्धिहीन, मूर्ख, धूर्त, परजीवी, परशोषक, पशुवत, असभ्य, अपराधी, दुष्ट, अन्यायी, विक्षिप्त, रुग्ण अथवा पापिष्ठ हैं। सार्वजनिक राष्ट्रकोष से सार्वजनिक हितों के साधे जाने से असहमत अथवा विरुद्ध होने वाला व्यक्ति राष्ट्रद्रोही, जनद्रोही, लोकद्रोही, देशद्रोही, सर्वद्रोही, ब्रह्मद्रोही, समाजद्रोही और असम्वैधानिक तत्त्व ही कहा जा सकता है।

८) सामाजिक न्याय के प्रतिष्ठापक चारों राष्ट्रीय जनाधिकारों को निःशुल्क, अबाध एवं अनिवार्य रूप से प्रदान किया जाए, क्योंकि इन्हीं चारों सेवाओं के लिए ही कर-वसूली की जाती है। अतः इन्हीं चारों जनाधिकारों के लिए सार्वजनिक राष्ट्रकोष से सार्वजनिक सेवाओं के रूप में राष्ट्रीय सरकार के चार उत्तरदायित्व निर्धारित किए जाएँ और सम्पूर्ण राष्ट्रकोष का परिव्यय अथवा बजट निर्धारण इन्हीं चारों मदों पर समानरूप से प्रत्येक मद पर 25% किया जाए। ये चारों सार्वजनिक सेवाएँ एक निर्धारित सर्वोपयोगी सीमा तक निःशुल्क हों तथा उस सर्वोपयोगी सीमा से अतिरेक उपभोग करने पर अतिरिक्तांश को सशुल्क भी मान्य किया जाना न्यायोचित है। ये चारों न्यायशील राष्ट्रीय जनाधिकार भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के मानवसमाज में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, बहाई आदि समस्त धर्मों, मजहबों, सम्प्रदायों, पंथों, वर्गों, जातियों, क्षेत्रों, रंगों, लिंगों आदि के लिए समानरूप से लागू होते हैं। भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में इन न्यायशील जनाधिकारों के प्रतिष्ठित होते ही सम्पूर्ण विश्व एक ही न्यायशील पंचायती राष्ट्र में परिवर्तित होगा। ग्राम, प्रभाग, प्रदेश, देश, विश्व आदि पाँच तलों पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित होगी। तब सम्पूर्ण विश्व में एक ही संविधान, एक ही सरकार, एक ही सेना, एक ही मुद्रा, एक ही बैंकिंग प्रणाली, एक ही करप्रणाली, एक ही राष्ट्रीयता, एक ही नागरिकता का जन्म होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण एक ही भाषा का उदय होगा। एक ही गुणात्मक लोकपंचायत प्रणाली द्वारा सम्पूर्ण विश्व का लोकनेतृत्व होगा। तब सीमाविवाद, युद्धोन्माद, हथियारों की होड़, उग्रवाद, आतंकवाद, मजहबी जेहाद, स्वतन्त्रता आन्दोलन, आजादी का संघर्ष आदि समाप्त हो जाएगा।

९) विगत कई हजार वर्षों से मानवसमाज में भीषण अन्याय प्रचलित है। समाज में जंगलराज की यह पशुप्रवृत्ति अथवा पिशाचलीला चल रही है। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में करोड़ों अथवा अरबों की संख्या में लोग अशिक्षा, बेरोजगारी, असुविधा और असुरक्षा से ग्रस्त हैं। लोग शिक्षा, रोजगार, सुखसुविधा एवं संरक्षण की प्राप्ति के लिए तरस रहे हैं। राष्ट्रीय जनाधिकारों का न्यायशील समुचित निर्धारण और वितरण नहीं है। समाज में आर्थिक, सांस्कारिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक तलों पर सर्वत्र अन्याय है। राज्यवर्ग द्वारा प्रजावर्ग का शोषण, दलन, दमन, उत्पीड़न किया जा रहा है। सार्वजनिक धन का अपहरण वर्गविशेष द्वारा किया जा रहा है। सार्वजनिक राष्ट्रकोष का समुचित सार्वजनिक वितरण नहीं है। लोकजीवन में न्यायशील लोकतान्त्रिकता का सर्वथा अभाव है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का मात्स्यन्याय मानवसमाज में चल रहा है। सामाजिक न्याय वर्तमान की प्यास है। अतः जनसमाज में प्रबुद्ध वर्ग से यह न्यायनिवेदन किया जाता है कि वे राष्ट्रीय जनाधिकारों के निर्धारण हेतु न्यायोचित मतदान करके लोकजीवन को अनुग्रहीत करें, क्योंकि सामाजिक न्याय के प्रतिष्ठापक इन चारों राष्ट्रीय जनाधिकारों की समुचित सुलभता से जनजीवन धन्य हो जाता है और समाज में फैली हुई भीषण और विकराल समस्याओं, जैसे- चोरी, डकैती, अपहरण, दहेज, बलात्कार, हत्या, आत्महत्या, मारकाट, आतंकवाद, युद्ध, वादविवाद, वर्गसंघर्ष, जातिसंघर्ष, गरीबी, दरिद्रता, भुखमरी, अनाथता, बालश्रमिक, दासप्रथा, भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी, राजनीति आदि दोषों का समाधान स्वतः हो जाता है। इससे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर पारस्परिक प्रतियोगिता का जन्म होगा। भारतसहित सम्पूर्ण विश्व में समृद्धि, सुसंस्कृति, सुसभ्यता एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति होगी। सर्वत्र सुखशान्ति का स्वाभाविक वातावरण बनेगा। 'विश्व-बन्धुत्व' और 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का चिरपुरातन स्वप्न सहज ही साकार होगा। मनुष्यों में 'ब्रह्माण्ड-मण्डलम्' की सद्बुद्धि का उदय होगा।

१०) इस न्यायशील राष्ट्र रूपी 'भारतवर्ष' के पुनर्गठन हेतु यह जनमत संग्रह अभियान संचालित किया जा रहा है। वर्तमान न्यायविहीन भारतसहित सम्पूर्ण विश्व के समस्त नागरिकों से यह न्यायाग्रह किया जाता है कि वे जनहित को ध्यान में रखते हुए इस 'जनमत-सर्वेक्षण-कार्यक्रम' में भाग लेकर सत्यविवेकपूर्वक सार्वजनिक रूप से खुला मतदान करके सामाजिक न्याय की स्थापना में अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान करें।

❀ ❀ ❀

प्रेरणा-गीत

हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।
सीढ़ी सुपंथ की है इसे तुम चढ़े चलो।।

चढ़नी हैं सामने ये पहाड़ों की चोटियाँ।
जेबों में न दमड़ी है न खाने को रोटियाँ।।
पीकर हवा चलो कि गगन में उड़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

नंगे हैं पाँव और ये नंगा है तन-बदन।
निकलोगे सर उठा के तो हिल जायेगा गगन।।
तुम सत्य प्रेम न्याय का मन्तर पढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

धूर्तों की राजनीति के फंदे से अब बचो।
समता के संविधान का ढाँचा खड़ा करो।।
छलियों के दुर्विधान का घट फोड़ते चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

ईश्वर है सत्य एक उसी का जहान है।
उसकी हर एक चीज पे हक भी समान है।।
इस न्यायनीति के लिये 'अंकुर' लड़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

चतुराई का छल-छन्द का अब दौर बन्द हो।
सबके लिये समान सुखों का प्रबन्ध हो।।
अद्वैत-ब्रह्म-सत्य से मन को मढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

सबके लिये समत्व न्याय का विधान हो।
इस न्यायधर्म के लिये ही संविधान हो।।
'वसुधा-कुटुम्ब' का ये गीत है पढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

अब तो तुम्हारे हाथ में मतदान का है बल।
जागो कि दुर्विधान तख्तो-ताज दो बदल।।
राजा प्रजा का भेद-भाव छोड़ते चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

उठ्ठो कि राजनीति को जड़ से उखाड़ दो।
दुष्टों के राजभोग के गढ़ को उजाड़ दो।।
समता की न्यायनीति के रथ पर चढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

राजा न राजनेता न हो दुष्ट प्रशासक।
समता का संविधान हो नयनीति नियामक।।
उठ्ठो कि भाँग पीके न औंधे पड़े रहो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

अब राजनिवासों में गरीबों का वास हो।
नेता-विधायकों का तो सादा लिबास हो।।
सुविधा समस्त देश की जनता के लिए हो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

अपनी ही वेदना की तरह सबकी वेदना।
है इक समान भूख-प्यास और कामना।।
सबमें वही है एक सत्य देखते चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

ये लिंग-रंग जाति-पांति क्षेत्र-वर्ग क्या।
जब ज्ञात हो इस आत्मा की एकरूपता।।
हर आँख में अखण्ड सत्य को पढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

बच्चे न हो गुलाम ये माँ-बाप के लिये।
राजा न कोई अब प्रजा का खून पी सके।।
गुणवान लोकतंत्र की सत्ता गढ़े चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

गुण योग्यता क्षमता बिना सरकार न कोई।
गुण के बिना कर्तव्य का अधिकार न कोई।।
गुण-योग्यतानुसार व्यवस्था दिए चलो।
हे धीर! हे सुवीर! चलो तुम बढ़े चलो।।

❀❀❀

न्यायधर्मगीत

हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।
न्यायपंथ तो इस जीवन का प्रथम धर्म है भाई।।

रंग रूप गुण भाषा संस्कृति जग में हैं बहुतेरी।
किन्तु मनुजता एकमात्र है सबमें बात घनेरी।।
भूख प्यास दुःख दर्द एक है सबका देखो भाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

भोजन वस्त्र मकान सभी के लिये जरूरी होता।
पालन पोषण शिक्षा दीक्षा में कैसा समझौता।।
अनपढ़ अनगढ़ जीवन होता है भीषण दुःखदाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

कौन चाहता है अपमानित होकर जीवन जीना।
कौन चाहता दुष्कर्मों का जहर निरन्तर पीना।।
सुन्दर सभ्य सुसंस्कृत जीवन है सबको सुखदाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

कौन चाहता है रोगों से घुट-घुट कर मर जाना।
कौन चाहता निर्धन बनकर पग-पग ठोकर खाना।।
सुन्दर जीवन सबको भाये भाये मान बड़ाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

मूल भावना एक सभी की एक मूल आशाएँ।
एक मूल आवश्यकताएँ एक मूल इच्छाएँ।।
हर प्राणी सुख-शान्ति चाहता प्रिय है किसे लड़ाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

सुख सम्मान सुरक्षा सबकी खोज यही है भाई।
किन्तु स्वार्थ में अन्धेपन से खिंची परस्पर खाई।।
क्षेत्र लिंग या रंग जाति में आज विषमता छाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

एक खुदा के बन्दे हैं सब झूठी सब तकरारें।
एक माल के मोती हैं सब झूठी सब दीवारें।।
राजनीति छल-कपट दुःखद है न्यायनीति सुखदाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

मूलभूत अधिकार एक हों अवसर और समादर।
आयस्रोत संसाधन संपद सबके लिये बराबर।।
'अंकुर' समता गुणवत्ता की जग में हो प्रभुताई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

पाँच सहस वर्षों में पंद्रह सहस युद्ध भड़काए।
कोटि-कोटि निर्दोष जनों के तुमने लहू बहाए।।
भेद विषमता के कारण ही अब तक हुई लड़ाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

घोर अशिक्षा अनाजीविका घोर असुविधा व्यापी।
असुरक्षा से पीड़ित मानव करते आपाधापी।।
किन्तु पाँच प्रतिशत लोगों ने काटी खूब मलाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

अब तो चेत करो हे भाई रोको ताण्डव नर्तन।
न्याय-प्रेम की बात करो अब ले आओ परिवर्तन।।
नरपिशाच का नृत्य देखकर आँख अरे भर आई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

न्यायधर्म ही विश्वधर्म है अन्य धर्म हैं झूठे।
यदि समाज में न्याय न हो तो ईश्वर तुमसे रूठे।।
यह अन्याय अधर्म छोड़कर ग्रहण करो सच्चाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

वेद बाइबिल गीता और कुरान यही बतलाते।
सच्चे अनुयायी होते तो न्यायधर्म अपनाते।।
न्यायधर्म को तजकर देखो सबने करी ढिठाई।
हम हिन्दू हों या मुस्लिम हों या हों सिख ईसाई।।

❀❀❀

न्याय कहानी

न्यायधर्म धरती का धारक है यह बात पुरानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम्।।
सुख समृद्धि सौहार्द शान्ति स्वयमेव धरा पर तब थी।
पूर्वकाल में इस धरती पर धर्मव्यवस्था जब थी।।
दण्ड न कोई दण्डक राजा और न कोई रानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

यतो सत्यस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।
यतो न्यायस्ततो राष्ट्रं न्यायनीति महाबलम्।।
जहाँ धर्म है जीत वहीं है धर्म बिना सब सूना।
जहाँ न्याय है नीत वहीं है न्यायनेत्र फल दूना।।
न्यायधर्म को नाश कर रही राजनीति यह कानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

सामर्थ्य मूलं स्वातन्त्रयं श्रममूलं च वैभवम्।
न्यायमूलं सुराज्यं स्यात् संघमूलं महाबलम्।।
सम्बल से मिलती स्वतन्त्रता श्रम से मिलता पैसा।
न्याय बिना शुभ राष्ट्र नहीं है संघ बिना बल कैसा?
न्यायधर्म ही राष्ट्रसंघ का रख सकता है पानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

यावत् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं यो अभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति।।
जीवनयापन जितने धन से उतने पर प्रभुताई।
उससे अधिक कहे जो अपना वही चोर अन्यायी।।
यही न्याय की नीति राष्ट्र के लिये सभी ने मानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
ईश्वर सबमें बसा हुआ है इस जग के कण-कण में।
न्यायपूर्वक भोगो निज अधिकार न मानो धन में।।
यही न्याय का धर्म राष्ट्र के लिये सदा वरदानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।
सुनो धर्म का सार यही है सुनकर मन में धारो।
जो अपने प्रतिकूल उसे परहेतु नहीं आचारो।।
यही सनातन धर्मनीति है जग जानी-पहचानी।
सुनो कहानी! सुनो कहानी! सुनो कहानी!

❁❁❁

न्यायधर्म

न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।
जन अधिकार समान उचित गुणवत्ता के अनुसार हो।।

न्यायधर्म कहता है सबको शिक्षा का अधिकार मिले।
प्रथम आयु पच्चीस वर्ष तक सबको शुभ संस्कार मिले।।
नित अनिवार्य निशुल्क अबाधित शिक्षा क्रम अनुसार हो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।।

न्यायधर्म कहता है सबको आजीविका अबाध मिले।
प्रति परिवार एक संसाधन का सबको अधिकार मिले।।
कृषि वाणिज्य प्रशासन नैतिक क्रमशः कर्म प्रभार हो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।।

न्यायधर्म कहता है सबको सुख-सुविधा संप्राप्त हो।
सड़क और बिजली पानी हर ग्रामक्षेत्र में व्याप्त हो।।
पिछड़ा क्षेत्र न रहे कहीं पर ग्राम सुरम्य विहार हो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।।

न्यायधर्म कहता है सबको संरक्षण सब भाँति मिले।
स्वास्थ्य चिकित्सा और सुरक्षा से जीवन का कमल खिले।।
रोग शोक भय रहे न कोई स्वस्थ सकल संसार हो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।।

न्यायधर्म से ही जीवन का होता है चहुँमुखी विकास।
शारीरिक मानसिक भावनात्मक आध्यात्मिक बिना प्रयास।।
शोषण दलन दमन उत्पीड़न का न कहीं व्यवहार हो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है समुचित नीति विचार हो।।

❀❀❀

न्यायविधान

समुचित अधिकारों का नियमन न्याय कहाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

ऐसा बने विधान प्रजा को समुचित सब अधिकार मिले।
सबको समुचित कर्तव्यों का भी सुन्दर उपहार मिले।।
न्यायधर्म ही सकल राष्ट्र का भाग्य जगाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

राजनीति छल-कपट छोड़कर न्यायनीति का वरण करो।
न्यायधर्म ही राष्ट्रधर्म है न्यायधर्म अनुसरण करो।।
हो समुचित व्यवहार परस्पर न्याय सिखाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

तज करके अन्याय विषमता न्यायशील समता लाओ।
विषमविधान त्यागकर अब तो संविधान ही अपनाओ।।
समदर्शी जो न्याय नयन है वही विधाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

गुण क्षमता कौशल अपनाओ न्यायधर्म यह कहता है।
न्यायनीति के अवलंबन से राष्ट्र सुखी नित रहता है।।
सदा गुणात्मक लोकतंत्र ही न्याय निभाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

आर्थिक संस्कारिक व्यवहारिक आध्यात्मिक अधिकार कहो।
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सृष्टि के प्रति निश्चित कर्तव्य गहो।।
वर्णाश्रम अधिकार और कर्तव्य सिखाता है।
जन-जन का इस न्यायधर्म से सुन्दर नाता है।।

❀❀❀

न्यायमहिमा

न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।
जिस समाज में न्याय न होगा, वह समाज मर जाएगा।।

ग्राम समाज देश का अपने, यदि तुमको प्रिय है कल्याण।
सामाजिक सभ्यता के लिए, न्यायधर्म को रखो प्रमाण।।
न्यायधर्म ही इस समाज को, स्वर्ग स्वरूप बनाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

समुचित अधिकारों का वितरण, न्यायधर्म का मूलाधार।
न्यायशील अधिकारों से ही, होता सामाजिक उद्धार।।
समता बिना समाज न कोई, सामाजिक हो पाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

सम हो और उचित हो सबके, अधिकारों का निर्धारण।
नहीं विषमता बरती जाए, जग में कभी किसी कारण।।
समुचित अधिकारों कर्तव्यों, से समाज हरषाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

आर्थिक सांस्कारिक व्यावहारिक, आध्यात्मिक तल पर हो न्याय।
हो न कहीं वैषम्य विश्व में, सुखी रहे सारा समुदाय।।
राजनीति को छोड़ राष्ट्र जब, न्यायनीति अपनाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

शिक्षा रोजी सुखसुविधा, संरक्षण पाने का अधिकार।
न्यायशील हो संविधान तो, समुचित जनहित हो स्वीकार।।
चारों जनाधिकारों से यह, राष्ट्र धन्य हो जाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

नहीं अशिक्षा नहीं गरीबी, नहीं असुविधा असुरक्षा।
धरती स्वर्ग समान सिद्ध हो, सबके जीवन की रक्षा।।
'अंकुर' न्यायधर्म से भारत, फिर स्वर्णिम कहलाएगा।
न्यायधर्म से ही समाज यह, सुन्दर जीवन पाएगा।।

❀❀❀

अधिकार महिमा

अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।
अधिकारी ही कर्तव्यों का, धर्म निभाता है।।

युग-युग से कर्तव्यों का ही, सबने पाठ पढ़ाया।
अधिकारों को छीन प्रजा का, जीवन नर्क बनाया।।
अधिकारों को नाशे जो वह, धूर्त कहाता है।
अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।।

भूखे भजन न हो गोपाला, सुनो कहावत प्यारी।
कर्तव्यों से पहले मानव, को समझो अधिकारी।।
पानी जिसके पास वही तो, प्यास बुझाता है।
अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।।

बिना प्राप्ति के कुछ भी देना, संभव कैसे होगा।
त्यागा है उसने ही जिसने, जीवन का सुख भोगा।।
शिक्षा जिसको मिली वही, शिक्षा दे पाता है।
अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।।

शिक्षा रोजगार सुखसुविधा, संरक्षण सब पाएँ।
ये चारों अधिकार मिलें तो, सब कर्तव्य निभाएँ।।
मानवीय अधिकारों से, मानव का नाता है।
अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।।

जिसको शिक्षा मिली वही तो, शिक्षा देता है।
जिसको सेवा मिली वही, औरों को सेता है।।
जिसको कुछ भी मिला वही तो, कर्ज चुकाता है।
अधिकारों के बिना नहीं, कर्तव्य सुहाता है।।

❀❀❀